।।ॐ नमो वर्द्धमानाय स्पर्द्धमानाय कर्मणा।।

प्रतिबोध

: प्रवचनकार :

प.पू. आचार्य श्रीमत् कल्याणसागरसूरीश्वरजी म.सा.

के शिष्य

आधुनिक विश्व के महान श्रुतसमुद्धारक

प.पू. आचार्य श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा तीर्थ

२००४

प्रकाशकीय

परम पूज्य राष्ट्रसंत **आचार्यदेव श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब** इस सदी के एक अनोखे चिंतक और महान जिनशासन प्रभावक हैं. आपश्री के प्रवचनों से मन को वर्णनातीत शांति प्राप्त होती है. आपश्री ने जनसमुदाय को अपने प्रवचनों तथा अद्‌भुत वाक्पटुता द्वारा सही दिशा एवं सन्मार्ग दिखाया है. समाज की उन्नति, सुख-शांति के लिए आपके सत्प्रयासों का भारत के हर प्रान्तीय जनसमुदाय में स्वागत हुआ है. प्रस्तुत **प्रतिबोध** नामक प्रकाशन में आपश्री के द्वारा दिए गए चिंतनपरक प्रवचनों का संग्रह है.

इस पुस्तक में भाषा को लोकगम्य ही रखने का प्रयास किया गया है जिससे यह सर्वजन सुगम हो सके. इसी कारण आपको गुजराती, राजस्थानी हिन्दी के उदाहरण भी देखने को मिलेंगे. अब तक इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं.

खुशी की बात है कि जिनेश्वर देव चरम तीर्थंकर भगवान श्री महावीरस्वामी की कृपा एवं परम पूज्य दादागुरु गच्छाधिपति **आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी** महाराज के दिव्य आशीर्वाद से प्रतिबोध का यह चौथा संस्करण कोबा तीर्थ के सान्निध्य में **इन्टरनेशनल जैन डॉक्टर्स फेडरेशन** (३-४ जनवरी २००४) के अवसर पर सीडी के रूप में प्रकाशित हो रहा है. आशा है इसका स्वागत होगा. इस तरह का यह पहला प्रयास है अतः संपादन में प्रमादवश रह गई भूलों हेतु पाठक क्षमा करेंगे.

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र ट्रस्ट बोर्ड

कोबा तीर्थ, गांधीनगर

आचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा.

महान श्रुतोद्धारक जैनाचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज जैन संस्कृति और साहित्य के दिग्गज संरक्षक तथा कला क्षेत्र एवं अन्य विधाओं के मर्मज्ञ होने के उपरांत भारत की एकता, साम्प्रदायिक सामंजस्य और विविध धर्मों के समन्वय को अपना कर मानव मात्र के कल्याण को जीवन संदेश बना कर तद् हेतु सदैव प्रयत्नशील हैं। उन्होंने अपने कार्य-कलाप, व्याख्यान और विविध गतिविधियों के माध्यम से सदैव जनहित, आर्यत्व विकास और नैतिकतामय धार्मिक संस्कारों का प्रचार और प्रसार किया है।

आचार्यश्री व्यक्तिगत रूप से धर्म के संदर्भ में भले ही जैन-धर्म से जुड़े हुए हों। किंतु विचार, वाणी कर्म और कार्य से भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्मय नक्षत्र मंडल में सर्वत्र देदीप्यमान हैं। वास्तव में वे एक क्रांतिदर्शी मनीषी हैं, जिनमें संन्यासी वृत्ति, त्याग-तपस्विता के साथ-साथ एक अपूर्व तेजस्विता एवं दूरदर्शी दृष्टिकोण है। उनकी सूर्य की तरह प्रखर ज्ञान की उष्मा, प्राचीन ऋषि-मुनियों की सात्विकता, कबीर की स्पष्टवादिता और विवेकानंद जैसी ओजस्वी शैली ने असंख्य जन-हृदयों की श्रद्धा का भाजन बना दिया है।

प्रायः अपने प्रवचनों में आप कहते हैं

"मैं सभी का हूँ, सभी मेरे हैं।
प्राणी-मात्र का कल्याण मेरी हार्दिक भावना हैं।
मैं किसी वर्ग, वर्ण, समाज या जाति के लिए नहीं,
अपितु सबके लिए हूँ।
मैं इसाईयों का पादरी, मुस्लिमों का फकीर,
हिंदुओंका संन्यासी और जैनियों का आचार्य हूँ।"

शीर्षक-सूची

१. धर्मका स्थान......५-६
२. निर्मल मन......७-९
३. स्वास्थ्य......९-११
४. मानवता......११-१४
५. अहंकार और ममता......१४-१६
६. कुछ पर्व......१६-१८
७. सम्यक्त्व......१८-२०
८. जीवन-विकास......२०-२२
९. जीवन का लक्ष्य......२२-२५
१०. सच्चा जैन......२५-२७
११. गुरु-शिष्य......२७-२९
१२. साधनों का सदुपयोग...... ३०-३१
१३. परोपकार...... ३२-३४
१४. आत्मज्ञान......३४-३६
१५. सच्चिदानन्द......३६-३८
१६. सत्संग......३८-४०
१७. निर्भय बनें......४०-४२
१८. शिक्षार्थी......४२-४४
१९. धर्म और विज्ञान......४४-४६
२०. भोगों का त्याग......४७-४८
२१. दुर्लभ चतुरंग...... ४९-५०
२२. ज्ञान से मोक्ष......५१-५२
२३. पुण्यपाल......५३-५४
२४. अंजना......५५-५६
२५. मदनरेखा......५६-५७
२६. मैनासुन्दरी ५८-६०
२७. सुविचार......६०-६२

धर्मका स्थान

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के अनुसार कर्म बाँधते समय जीव विचार नहीं करता; इसीलिए वह विकार का शिकार बन जाता है।

जीवनभर वह परिग्रह के पीछे पड़ा रहता है। धन प्राप्त करने के लिए वह कोई भी दुष्कृत करने में नहीं हिचकिचाता। वृद्धावस्था भी उसमें बाधक नहीं बनती। शरीर शिथिल होने पर भी तृष्णा शिथिल नहीं होती। बाल सफेद होने पर भी मन काला बना रहता है। दाँत गिर जाने पर भी लोभ उठता रहता है। कितनी विचित्र बात है!

राजा कुमारपाल ने किसी चूहे की स्वर्णमुद्राएँ उठा ली थीं तो वह सिर फोड़ कर मर गया था - इससे पता लगता है कि तिर्यञ्च गति में भी तृष्णा अपना दुष्प्रभाव दिखाती है; फिर मनुष्य गति की तो बात ही क्या?

सुना था कि एक आदमी के पाँच सौ रुपये किसीने चुरा लिये। इससे वह इतना अधिक दुःखी हुआ कि दुःख से मुक्त होने के लिए अपने शरीरपर घासलेट छिडककर उसने आत्महत्या कर ली! वैसे आत्मा एक अजर-अमर तत्त्व है। उसकी हत्या हो ही नहीं सकती; परन्तु जो लोग शरीर को ही आत्मा कहते-मानते हैं, उन्होंने "आत्महत्या" शब्द चला दिया, सो चल रहा है। भाषा के इस मुहावरे को अब रोका नहीं जा सकता। अस्तु।

शंकराचार्य ने लिखा हैः-

"अर्थमनर्थं भावय नित्यम्

नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्"

[अर्थ (धन) को हमेशा अनर्थ (अनिष्ट) समझो। सचमुच उसमें जरा भी सुख नहीं है।]

एक दृष्टान्त द्वारा यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगीः-

एक फकीर सामने से भागता हुआ चला आ रहा था। दो मित्रों ने उसे रोक कर भागने का कारण पूछा। फकीर ने कहाः- "मैंने मार्ग में अमुक वृक्ष के नीचे मानवमारक को देखा था। उससे बचने के ही लिए मैं भागकर चला आ रहा हूँ।"

फकीर चला गया। मित्र आगे बढे। उस वृक्ष के नीचे पहुँचकर उन्होंने सोने की एक ईंट देखी। फिर एक ने दूसरे से कहा कि वह फकीर हमें डरा कर दूसरी दिशा में भेजना चाहता था, जिससे यह ईंट हमें न मिल जाय और वह स्वयं ही लौटते समय इसे अपने साथ ले जा सके; परन्तु अब उसकी योजना असफल हो गई है।

दूसरे ने कहा- "हम धन कमाने के लिए ही अपने गाँव से निकले थे। भाग्य से आज ही यह ईंट मिल गई; अतः हमारा मनोरथ पूर्ण हो गया है। अब हमें अपने गाँव को लौट चलना चाहिये। गाँव में पहुँच कर हम आधी-आधी ईंट दोनों ले लेंगे"।

प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। दोनों अपने गाँव की ओर रवाना हुए। मार्ग में एक दूसरा गाँव आया। उसके बाहर एक सघन वृक्षकी छाया में दोनों ठहर गये। भूख लगी। एक मित्र दूसरे पर ईंट की सुरक्षा का भार डालकर उस गाँव में भोजनसामग्री लेने पहुँचा। वहीं उसके मन में विचार आया कि मिठाई में यदि थोडा-सा जहर मिला दूँ तो उसे खाते ही वह मर जायेगा और सोने की पूरी ईंट मुझे मिल जायेगी। उसने वैसा ही किया। सामग्री लेकर उस वृक्ष के समीप लौट आया।

अब जल की जरूरत थी। मित्रने कहा- "तुम खाना शुरू करो। मैं अभी पास के कूँए से लोटे में जल भर लाता हूँ।"

ऐसा कहते ही वह मित्र जल भरकर लाने के बहाने लोटा-डोर उठाकर कूँए की ओर चल पडा।

उधर वृक्ष के पास बैठे मित्र के भी मन में पाप आ गया। उसने सोचा कि यदि मैं उस कूँएमें ही मित्र को धकेल दूं तो पूरी ईंट पर मेरा अधिकार हो जायेगा। फलस्वरूप वह ईंट वहीं छोडकर उठा और भागता हुआ कूँए पर जा पहुँचा। बोलाः- "मित्र! तुम भोजन-सामग्री लेकर आये और तत्काल पानी लेने चले आये? तुम्हें तो आराम की जरूरत है। लाओ, पानी मैं खींच दूं।"

ऐसा कहते हुए उसे कूँए में धक्का देकर गिरा दिया। लौटकर मिठाई खाई तो जहर के प्रभावसे वह खुद भी चल बसा। थोडी देर बाद जब फकीर लौटकर उसी रास्ते से गुजरा और उसने पेड के नीचे का दृश्य देखा तो सहसा बोल उठाः- "सचमुच यह ईंट मानवमारक है!" फकीर फिर वहाँ से भाग खडा हुआ।

अपनी सन्तान के लिए धन का संग्रह करते समय मनुष्य ऐसा नहीं सोच पाता, जैसा एक कवि ने कहा हैः-

"पूत सपूत तो का धन संचय?

पूत कपूत तो का धन संचय?"

यदि पुत्र सुपुत्र है तो वह स्वयं कमा लेगा और कुपुत्र है तो संचित धन को भी उडा देगा - दोनों दशाओं में धन का संचय व्यर्थ है।

पुत्र ही क्यों? सारे कुटुम्बी लोग अपनी काया - कम्पनी के शेयरहोल्डर्स हैं। काया से उत्पन्न धनका लाभ तो सब उठाते हैं; परन्तु सजा अकेले आत्माराम को भोगनी पडती है। डाकू रत्नाकर को जब महर्षियोंके द्वारा यह बात समझ में आ गई तब हत्या, लूटपाट आदि छोडकर वह तपस्या में लीन हो गया और महर्षि वाल्मीकि के नाम से विख्यात हुआ।

अनेक कष्ट सह कर प्राप्त धनका उपयोग मनुष्य कामभोग में करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें अर्थ-काम की एक जोडी है और धर्म-मोक्ष की दूसरी। पहली जोडी जीव को संसार मे भटकाती है और दूसरी उससे मुक्त करती है। निन्यानवे प्रतिशत संसारी जीव पहली जोडी के ही चक्कर में पडे रहते हैं। उस चक्कर से ऊपर नहीं उठ पाते।

संसार का मार्ग प्रेयोमार्ग है और मुक्ति का मार्ग श्रेयोमार्ग। जिनके विवेकलोचन बन्द रहते हैं, वे अदूरदर्शी प्राणी प्रेयोमार्ग पर ही दौडते रहा करते हैं।

अर्थ के प्रति अरुचि हो जाय तो उसे परोपकार में लगा सकते हैं; परन्तु काम के प्रति अरुचि सहज नहीं होती। वर्षोंतक काम अपनी ओर प्राणियोंको आकर्षित करता रहता है। तपस्याके कारण शान्त दिखाई देनेवाला काम भी कब विराट् रूप धारण कर लेगा? इसका कोई भरोसा नहीं।

पर्वत की एकान्त कन्दरा में बैठे हुए घोर तपस्वी रथनेमी की दृष्टि ज्यों ही राजुल नामक निर्वसना साध्वीपर पड़ी, त्यों ही उनके मनमें कामाग्नि प्रज्वलित हो गई। उनकी सारी साधना धूल में मिल गई। गिड़गिड़ाकर वे उस साध्वी से भोगयाचना करने लगे।

अखण्ड शीलव्रतधारिणी महासती राजुल ने प्रतिबोध देते हुए कहाः- "हे मुनिराज! राज्यके साथ ही आपने समस्त काम-भोगों का भी त्याग कर दिया था। कोई दाता कभी दत्त वस्तु को दुबारा ग्रहण करना नहीं चाहता। व्यक्त वस्तु को पुनःप्राप्त करनेकी इच्छा तो वमन की चाह के समान अवांछनीय है - निन्दनीय है। आप जैसे धर्मात्मा तपस्वी को ऐसा निन्दनीय कार्य शोभा नहीं देता।"

इससे उनकी कामाग्नि शांत हो गई और यथोचित प्रायश्चित्त लेकर वे पुनः तपस्या में लीन हो गये।

वह काम ही था, जिसने महर्षि विश्वामित्र जैसे तपस्वी को उर्वशी पर मोहित करके निस्तेज बना दिया था।

यही हाल सूत और उपसूत का हुआ। ये दोनों घनिष्ट मित्र तपस्या के द्वारा शक्तिशाली बनकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों को अपने चरणों मे झुकाना चाहते थे। दोनों मिलकर २२ (बाईस) योद्धाओं के बराबर सशक्त हो जाते थे। यह बात विष्णु को ज्ञात हो गई। उन्होंने "मोहिनी" रूप में प्रकट होकर नृत्य के द्वारा हाव-भाव प्रदर्शित किये। तपस्या और साधना भूलकर दोनों तपस्वी उस मोहिनी पर मुग्ध हो गये। मोहिनी ने कहा कि तुम दोनों में से जो अधिक बलवान् होगा, मैं उसी का वरण करूँगी। अधिक बल किसका है? इसका निर्णय युद्धके द्वारा ही हो सकता था। फलस्वरूप दोनों आपस में युद्ध करने लगे। अन्त में एक की मृत्यु हो गई। शक्ति बाईस से घटकर दो के बराबर रह गई। इससे ब्रह्मा-विष्णु-महेश पराजयसे बच गये। ऐसा है भयंकर काम!

अर्थ और काम ये दोनों पुरुषार्थ धर्म और मोक्ष के बीच में रक्खे गये हैं - यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। अर्थ और काम पर धर्म से अंकुश रक्खा जा सकता है।

ईमानदारी और मेहनत से धन कमाया जाय तथा उसका उपयोग परोपकार में किया जाय तो अर्थ अपने वश में रहेगा। इसी प्रकार कामनाओं को ऊर्ध्वगामी बनाया जाय अर्थात् कामिनी से माता पर, माता से गुरु पर और गुरु से प्रभु पर उन्हें ले जाया जाय तो वे पवित्र होंगी और इस तरह "काम" पर धर्म का अंकुश रहेगा।

धर्म से यह लोक भी सुधरता है और परलोक भी। धर्म से विचार और विवेक पैदा होता है। अर्थ और काम के सर्वोच्च आसन पर बिराजमान चक्रवर्त्ती महाराज भरत को धर्म ने ही विरक्त बनाया था - सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनाया था - मोक्ष दिलाया था; इसीलिए चार पुरुषार्थो में धर्मका स्थान सर्वप्रथम रक्खा गया है।

निर्मल मन

आज मानव स्वयं अपना मूल्य बदल रहा है। वह मानवता से नहीं, साधनसामग्री से ही किसी मानव का मूल्यांकन करता है। अकबर इलाहाबादी ने कहा थाः-

नहीं कुछ इसकी पुरसिश

उल्फते अल्लाह कितनी है।

सभी यह पूछते हैं,

आपकी तनख्वाह कितनी है।।

ईश्वर में आपकी भक्ति कितनी है? यह कोई नहीं पूछता। इसके बदले सब यही पूछते हैं कि आपका वेतन क्या है? वेतन के आधार पर ही आपका सम्मान किया जाता है।

लोग भूल जाते हैं कि साधनसामग्री का मालिक मनुष्य है; इसलिए मनुष्य का ही महत्त्व अधिक है। वह वस्तु के आसपास न घूमकर वस्तुओं को ही अपने आसपास घुमानेवाला केन्द्र है।

आधुनिक युग मे मशीनें जितनी महँगी हैं, मनुष्य उतने ही सस्ते हैं। साधनसामग्री ही सर्वत्र सबके सिर चढकर बोलती है। मनुष्य साधनों (मशीनों) का मालिक न रहकर गुलाम बन गया है। जो लोग कार में बैठकर यहाँ व्याख्यान सुनने आते हैं, उनकी कार कभी बेकार हो जाय तो उस दिन व्याख्यान की भी छुट्टी हो जाय। व्याख्यान लक्ष्य है, कार नहीं। कार तो केवल साधन है। हृदय में रही हुई शास्त्रश्रवण की भावना ही श्रावक की शोभा बढाती है, उसकी कार नहीं।

यह बात वही समझ सकता है, जिसके जीवनमें धर्म पुरुषार्थ हो। वह व्यक्ति यथाशक्ति हिंसा से दूर रहता है। अहिंसा को वह परम धर्म मानता है। मांसाहार के विषय में तो धार्मिक व्यक्ति कभी विचार तक नहीं कर सकता।

फिर भी हैं कुछ लोग, जो धर्मस्थानों में जाते हैं - व्याख्यान भी सुनते हैं - सामायिक आदि त्रियाएँ भी करते हैं; परन्तु गुपचुप मांसाहार कर लेते हैं। ऐसे लोगों मे से कुछ फैशन के रूपमें मांसाहार अपनाते हैं - कुछ आधुनिक कहलाने के लिए और कुछ मांसाहारियों से मित्रता निभाने के लिए। कई लोग इस भ्रमके शिकार होकर मांसभोजी बन जाते हैं कि उसके शरीर में शक्ति बढेगी - आयु लम्बी होगी; परन्तु वे भूल जाते है कि शाकाहारी हाथी मांसाहारी सिंह से कई गुना अधिक शक्तिशाली होता है। शाकाहारी नियमित भोजन से सौ वर्षोंतक आसानी से जिया जा सकता है। मांसाहारी का जीवन छोटा और क्रूर होने से नीरस होता है।

कहा गया हैः-

"पुरुषा वै शतायुः।।" (पुरुष सौ वर्ष तक जीवित रहता है।)

भारतीय सभ्यता और संस्कृति ही इस लम्बी आयु का प्रमुख कारण थी। असामयिक मृत्यु को अशुभ माना जाता था। विषय - कषाय से रहित शान्त जीवन ही आदर्श था।

आज कैसा है? आज का जीवन आधिव्याधि-उपाधि से लदा है। चिन्ता चिता की तरह जलाती है - रोग आग की तरह झुलसाते हैं और अन्य कष्टों का भय आयु को घटाता है।

भय पर जय पानेके लिए हमें "अभयदयाणं" (अभयदाता) परमेश्वर की शरण में जाना पडेगा। उससे मानसिक और शारीरिक दोनों तरह का स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

विषयप्राप्ति की चिन्ता से ऊपर उठकर हमें प्रभु के स्वरूप का चिन्तन करना है। चिन्तन में विवेक, विनय, निर्भयता, और प्रसन्नता का प्रकाश है, जो आयु को लम्बी बनाता है।

मन सहित पाँचों इन्द्रियों में जो पटुता है, उसे हम कटुता में परिवर्तित न होने दें - प्राप्त पटुता के लिए प्रबल पुण्य का आभार मानें और इन्द्रियों की तथा मन की पवित्रता टिकाये रक्खें तो निश्चय ही हमारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य विकसित और विलसित होगा।

वैसे देखा जाय तो शरीर का स्वास्थ्य मन के स्वास्थ्यपर अवलम्बित है। कहा भी है किसी नेः- "जिसका मन साफ है, उसका जीवन स्वर्ग है और जिसका मन मैला है, उसका जीवन नरक!"

मन मैला होता है - कषाय से। कषाय चार हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ। यहाँ मान का अर्थ अभिमान या घमण्ड है। माया का अर्थ है - छल। क्रोध और लोभ का अर्थ स्पष्ट है - सब लोग समझते हैं। इन चारों कषायों से रहित मन

निर्मल होगा; परन्तु निर्मलता ही पर्याप्त नहीं है। निर्मल जल भी यदि उष्ण हो - खारा हो - दुर्गन्धित हो तो पीने योग्य नहीं माना जाता। निर्मलता के साथ शीतलता, मधुरता और सुगन्ध भी देखी जाती है।

उसी प्रकार निर्मल मन में (कषायों से अकलुषित अन्तःकरणमें) मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य - इन चार भावों के दर्शन किये जाते हैंः-

"मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि

सत्त्वगुणाधिक्लिश्यमानाविनेयेषु।"

- तत्त्वार्थसूत्रम् ७/६

मैत्री प्रत्येक सत्त्व (प्राणि) के साथ होनी चाहिए। अन्तःकरण से निरन्तर "मित्ती मे सव्वभूएसु" (मेरी समस्त प्राणियों से मित्रता है) ऐसी ध्वनि निकलती रहनी चाहिए। इससे हमारा व्यवहार अहिंसामय प्रेममय बनेगा।

प्रमोद (हर्ष) अपने से अधिक गुणियों के प्रति होना चाहिए। साधारणतः लोग अपने से ऊँचे लोगों को देखकर ईर्ष्या की आग में जलने लगते हैं। इससे वे स्वयं अपना ही नुकशान करते हैं। स्पर्धा (होड) अच्छी होती है, ईर्ष्या बुरी। स्पर्धा में अपने आपको विकसित करके दूसरों के बराबर पहुँचने या उनसे आगे बढने की भावना होती है; परन्तु ईर्ष्या में दूसरों को गिराने की दुर्भावना रहती है। जिसके अन्तःकरण में प्रमोद होता है, वह अपने से अधिक गुणवानों का आदर करता है - उनसे मिलकर प्रसन्न होता है।

कारुण्य भाव दुःखियों के प्रति होना चाहिए। किसी को पीडा पाते देखकर हृदय काँप जाना चाहिए। यही अनुकम्पा है - दया है, जो धर्म का मूल हैः-

"दया धर्म का मूल है; पाप मूल अभिमान।

'तुलसी' दया न छोडिये, जब लग घट में प्राण।।"

बडे-बडे महात्माओं को करुणासागर कहा जाता है; क्योंकि कारुण्यभाव ने ही उनकी आत्मा को ऊपर उठाया है - महान् बनाया है।

चौथा भाव है - माध्यस्थ्य अथवा तटस्थता। यह अविनेय (अपात्र या अयोग्य) शिष्यों के प्रति रखने योग्य भाव है। जो उपदेश से नहीं सुधरता, वह धीरे-धीरे दुनिया के कटुतर अनुभव पाकर अपने आप सुधर जाता है; अतः उसके प्रति उपेक्षावृत्ति रखी जानी चाहिये।

कषायरहित निर्मल मन में इन चार भावों के विकसित होने पर व्यक्ति अमृतसरोवर में डुबकी लगाने लगता है। मृत्यु का भय उससे विदा हो जाता है। वह गाने लगता हैः-

"अब हम अमर भये, न मरेंगे!"

जिसका मन निर्मल होता है, उसका तन भी स्वस्थ होता है। एक प्राचीन घटना के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है।

हरिभद्र नामक एक विद्वान ब्राह्मण था। किसी जैन युवक से उसकी मित्रता हो गई। मित्रके आग्रह को देखकर एक दिन हरिभद्र किसी जिनमन्दिर में चला गया।

वहाँ महावीर प्रभु की प्रतिमा को देखकर व्यंग्यपूर्वक हरिभद्र बोल उठाः-

"वपुरेव तवा चष्टे

स्पष्टं मिष्टान्नभोजनम्।

नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ

तरुर्भवति शाद्वलः।।"

[हे भगवन्! आपका शरीर ही कह रहा है कि आप मिठाई खाते रहे हैं - यह स्पष्ट है; क्योंकि यदि खोंडर में आग लगी हो (पेट भूखा हो) तो पेड़ हराभरा नहीं रह सकता।]

यह सुनकर जैन युवक तिलमिला गया; परन्तु वह शान्ति और धैर्य के साथ जैन सिद्धान्तों पर उससे चर्चा करता रहा। फलस्वरूप हरिभद्र में जैन धर्म के प्रति अनुराग जागृत होने लगा। उसी वर्ष किसी जैनाचार्य का नगर में चातुर्मासार्थ पदार्पण हुआ। पंडित हरिभद्र प्रतिदिन व्याख्यान सुनने जाने लगा। धीरे-धीरे संसार से विरक्ति होनेपर उसने प्रव्रज्या ले ली। अपने गुरुदेव से जैन शास्त्रों का मननपूर्वक अध्ययन किया।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए हरिभद्र मुनि वर्षों बाद जब उसी नगर में पधारे और उन्होंने उसी मन्दिर में प्रतिमा के दर्शन किये, तब बोले -

वपुरेव तवाचष्टे

भगवन्! वीतरागताम्।

नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ

तरुर्भवति शाद्वलः।।"

[हे भगवन! आपका (यह हृष्टपुष्ट) शरीर ही आपकी वीतरागता को प्रकट कर रहा है; क्योंकि जिस पेड के खोंडर में आग हो, वह हराभरा नहीं रह सकता।]

मन में यदि राग की आग लगी हो तो शरीर भला कैसे पुष्ट होगा?

यही मुनि हरिभद्र आगे चलकर जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि के नाम से विख्यात हुए और उन्होंने एक हजार चार सौ चवालीस (१४४४) ग्रन्थों की रचना की।

राग, ममता, मोह, आसक्ति, वासना आदि मन के विकारों को दूर करने की प्रेरणा हमें इस घटना से लेनी है।

स्वास्थ्य

हिन्दी में एक कहावत बहुत प्रसिद्ध हैः-

"पहला सुख निरोगी काय"

शरीर रोगों से रहित हो - स्वस्थ हो, यह सबसे बडा सुख है। स्वस्थ शरीर से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा हैः-

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।।"

(निश्चय ही धर्म का पहला साधन शरीर है।)

धर्म का आचरण शरीर से ही होता है। जिसका शरीर अस्वस्थ है, वह दूसरों की सेवा नहीं कर सकता। रोगियों का इलाज वही वैद्य कर सकता है, जो स्वयं स्वस्थ हो। स्वस्थ व्यक्ति स्वयं भी प्रसन्न रहता है और दूसरों की भी प्रसन्नता बढाता है।

एक पाश्चात्य विचारक बीचर ने कहा हैः- "शरीर वीणा है, आनन्द संगीत; परन्तु वीणा दुरुस्त हो - यह सबसे पहले जरूरी है।"

वीणा का एक भी तार ढीला हो तो उससे अच्छे संगीत के योग्य उत्तम स्वर नहीं निकल सकते; उसी प्रकार शरीर में कहीं भी कुछ उपद्रव हो - रोग हो तो हम प्रसन्न नहीं रह सकते।

भव्य भवन हो, बहुमूल्य फर्नीचर हो, भरा-पूरा परिवार हो, सुशीला पत्नी हो, आज्ञाकारी पुत्र हो, आधुनिकतम भोगोपभोग की सामग्री हो, स्वादिष्ट खाद्य और पेय पदार्थ मौजूद हों; परन्तु अपने शरीर में यदि एक सौ चार डिग्री बुखार भी मौजूद हो तो सोचिये, क्या होगा? हमें कुछ भी नहीं सुहायगा। यही कारण है कि सभी विचारकों ने शारीरिक स्वास्थ्य पर जोर दिया है। करोडो रुपयों से भी स्वास्थ्य को अधिक मूल्यवान् माना है।

शारीरिक स्वास्थ्य से भी पहले मानसिक स्वास्थ्य आवश्यक है; क्योंकि यदि मन तन्दुरस्त न हो तो तन तन्दुरस्त नहीं रह सकता।

मन मनन करता है, विचार करता है, शरीर को संचालित करता है। पंच महाभूतों से बना हुआ शरीर तो मन की आज्ञा का पालन करता है। मन यदि दुःखी हो तो शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है। सन्त तुकाराम ने वर्षों पहले कहा थाः-

"मन करा रे प्रसन्न

सर्वसिद्धीचे साधन।।"

(सब सिद्धियों के साधन मन को प्रसन्न रखिये।)

जैन योगी श्री आनन्दघनजी ने एक बार गाया थाः-

"चित्त प्रसन्ने रे पूजनफल कह्युँ रे

पूजा अखण्डित एह।।"

उनके अनुसार चित्त की प्रसन्नता ही प्रभू की अखण्ड पूजा है!

जो व्यक्ति हँसमुख होता है, वह सदा अनेक मित्रों से घिरा रहता है; क्योंकि प्रसन्नता में चुम्बक की तरह आकर्षण होता है। इस से विपरीत जो व्यक्ति उदास रहता है - दूसरों के सामने अपना दुखडा ही सुनाया करता है - रोया करता है, उसके मित्र धीरे-धीरे कम होते जाते हैं और एक दिन ऐसा आता है कि वह अकेला रह जाता है।

अब केवल यह सोचना है कि मन प्रसन्न कैसे रखा जाय, विकारों से उसे कैसे बचाया जाय और सद्विचारों से उसे कैसे भरा जाय।

दुनिया का जितना नुकशान एटमबमों से हुआ है, उससे अधिक घटिया फिल्मों से हुआ है - फिल्मी गीतों से हुआ है; क्योंकि इनसे मन विकृत होता है - विषयों और कषायों से लिप्त होता है। यही बात बाजारू उपन्यासों के लिए कही जा सकती है। इन सबसे अपने आपको दूर रखना है।

एक सीढी से मनुष्य ऊपर भी चढ सकता है और नीचे भी उतर सकता है। मन के द्वारा आप उन्नति भी पा सकते हैं और अवनति भी। मन से सर्जन भी होता है और विसर्जन भी। ठीक ही कहा गया हैः-

"मन एव मनुष्याणाम्

कारणं बन्धमोक्षयोः।।"

(मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है।)

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी विचारक मन निर्मल बना रहता है। महाराज श्रेणिक ने जेल में भी विशुद्ध विचारों के द्वारा कर्म-निर्जरा की थी। अनुकूल स्थितियों में जीने की और प्रतिकूल स्थितियों में मरने की इच्छा तो सभी करते हैं; परन्तु जिसका मन निर्मल होता है, वह न दुःख में घबराता है और न सुख में घमण्ड करता है। वह तो सुख-दुःख से ऊपर उठकर निजानन्द में रमण करता है, वीतराग का स्मरण करता है।

प्रभु का स्मरण न करके विषयों का स्मरण करनेवाले की दुर्दशा कैसी होती है - यह जानने के लिए गीता के दो श्लोक देखियेः-

ध्यायतो विषयान्पुंसः

सङ्गस्तेषूपजायते।

सङ्गात्सञ्जायते कामः

कामात्क्रोधोऽभिजायते।। २/६२

क्रोधाद् भवति सम्मोहः

सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो

बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। २/६३

[पुरुष यदि विषयों का ध्यान करता है तो उससे उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति का नाश, उससे बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से उस पुरुष का सर्वनाश (पतन) हो जाता है।]

सभ्य व्यक्ति जिस प्रकार बिना काम के आदमियोंको भवन में नहीं आने देता, उसी प्रकार व्यर्थ के विचारों को मन में मत आने दीजिये। भौतिक मनोहर वस्तुओं के प्रति मोह नष्ट हुआ कि आपका दुःख भी गायब हो जायेगाः-

"दुःक्खं हयं जस्स न होइ मोहो।।"

- उत्तराध्ययनसूत्र ३२/८

(जिसमें मोह नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है।)

दुःख नष्ट होने पर मन में प्रसन्नता उत्पन्न होगी। किसका दुःख? अपना दुःख मिटाने का प्रयास तो सभी प्राणी करते हैं;

परन्तु महापुरुष वह है, जो दूसरों के दुःखको भी अपना दुःख समझकर उसे मिटाने का प्रयास करे।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का उदाहरण इस विषय में सबके लिए प्रेरणादायक है।

वे एक दिन घर से निकल कर किसी महत्त्वपूर्ण मीटिंग में शामिल होने जा रहे थे। मार्ग में एक ओर पल्लव के कीचड में फँसकर बाहर निकल ने के लिए छटपटाने वाले एक सूअर पर उनकी नजर पड गई। कार रुकवाकर वे तत्काल उसके समीप जा पहुँचे और खींचकर उसे बाहर निकाल दिया। मन-ही-मन उस मूक पशु ने कितनी शुभकामनाएँ राष्ट्रपति के लिए व्यक्त की होंगी - इसकी कल्पना कोई दुःखमुक्त व्यक्ति ही कर सकता है।

सूअर को कीचड से निकालने के प्रयास में लिंकन की पोशाक पर कीचड के छींटे लग गये; परन्तु क्या करते? अब इतना समय नहीं था कि पुनः घर जाकर पोशाक बदली जा सके। समय पर मीटिंग में पहुँचना जरूरी था। वे तुरन्त कार में सवार होकर मीटिंग में गये और उन्होंने भाषण भी दिया।

लोगों ने कीचड से भरी भव्य पोशाक का कारण जब उनके सेक्रेटरी से पूछकर जाना तो सब सदस्यों की ओर से एक व्यक्ति ने खडे होकर उनकी परोपकार परायणता की प्रशंसा की; परन्तु राष्ट्रपति ने उसका उत्तर देते हुए कहाः- "आप व्यर्थ मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। मैंने कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं किया है। सूअर को तड़पते हुए देखकर मेरे दिल में जो दुःख हुआ था, उसी दुःख को मिटाने के लिए मैंने उसे बाहर निकाला था!"

राष्ट्रपति अब्राहम लिंकनके दिल में जो दुःख हुआ था, उसे जैनशास्त्र के शब्द में अनुकम्पा कहते हैं - यही दया है, जो धर्म की माता हैः-

"धम्मस्स जणणी दया।।"

दया करने के लिए होती है, केवल कहने-सुनने के लिए नहीं। विषय कषाय से रहित निर्मल मन में ऐसी अनुकम्पा आसन जमाती है।

करुणा के सरोवर प्रभु महावीर की सौम्य शान्त मुद्रा भी मन में पवित्र भाव जगा सकती है। आर्द्रकुमार कों पेटी में से जिन प्रतिमा प्राप्त हुई। इससे पहले उन्होंने कभी प्रतिमा के दर्शन नहीं किये थे। प्रतिमा की शान्त मुद्रा का उनके हृदय पर क्या प्रभाव हुआ और वे किस प्रकार आत्मोद्धार के लिए तत्पर हो गये - सो आप सब जानते हैं।

निर्मल अन्तःकरण में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का अमृतरस भर जाता है, तब मन अपनी चंचलता का त्याग करके धर्म में स्थिर होता है और निरन्तर प्रसन्न रहता हैः-

प्रसादे सर्व दुःखानां

हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु

बुद्धिःपर्यवतिष्ठते।।

(प्रसन्न मन में समस्त दुःख समाप्त हो जाते हैं। जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, उसमें शीघ्र बुद्धि का निवास होता है।)

गीता के इस श्लोक से मालूम होता है कि बुद्धिमत्ता के लिए भी मानसिक प्रसन्नता आवश्यक है। प्रसन्नता से शारीरिक और मानसिक-दोनों प्रकारका स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है।

मानवता

चत्तारि परमंगाणि

दुल्लहाणि य जन्तुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा

संजमम्मि य वीरियं।।

[मनुष्यता, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम - ये चारों अंग (गुण) प्राणियों में अत्यन्त दुर्लभ हैं।]

यहाँ प्रभु महावीर ने जिन चार गुणों को दुर्लभ बताया है, उनमें पहला है - मानवता। आज इसी पर थोड़ा विचार करें।

चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकते हुए प्राणी को बड़ी मुश्किल से मनुष्य-भव प्राप्त होता है; परन्तु हर वह प्राणी, जिसे मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है, मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है। सच्चा मानव वही है, जिसमें मानवता हो - मानवोचित सद्गुणों का निवास हो। सद्गुणों से रहित मानवशरीर वैसा ही दिखाई देता है, जैसा जलरहित (सूखा) कोई सरोवर!

दीवार चुनने वाला मजदूर ऊपर उठता है और कूआँ खोदने वाला नीचे जाता है। श्रम तो दोनों करते हैं; फिर भी

परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा क्यों? दीवार चुनने का काम कठिन है - उसमें बुद्धि का अधिक उपयोग करना पड़ता है। इसके विपरीत खड्डा खोदने का काम सरल है। इसीलिए एक प्रकाश की ओर - आकाश की दिशा में बढता है और दूसरा अन्धकार की ओर - नरक की दिशा में।

ठीक इसी प्रकार मन-वचन-काया का दुरुपयोग करने वाला दानवता की दिशा में बढ़ता है और उनका सदुपयोग करनेवाला मानवता की।

संसार में रहकर भी जल में कमल की तरह साधु निर्लिप्त रहता है। कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को संकुचित करता है। विषय-कषायों से अपने मन को दूषित नहीं करता। सब जीवों के कल्याण की कामना करता है। साधुता प्राप्त करना हर एक के वश की बात नहीं है, परन्तु अपने जीवन में मानवता को अपनाकर "सच्चा मनुष्य" बनने का प्रयास तो सभी कर सकते हैं, करना चाहिये भी।

सच्चे मनुष्य को ही सज्जन कहते हैं। वह मन से किसी का बुरा नहीं सोचता, सबका भला चाहता है; वचन से सोचसमझकर मधुर कोमल शब्दों का प्रयोग करता है और काया से यथाशक्ति दूसरों की सहायता करता है।

विद्वान् भी दुर्जन हो तो उससे दूर रहने की सलाह नीतिकार देते हैंः-

दुर्जनःपरिहर्त्तव्यो

विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।

मणिना भूषितःसर्पः

किमसौ न भयङ्करः?

(विद्या से सुशोभित दुर्जनका भी त्याग कर देना चाहिये। क्या मणि से अलंकृत साँप भयंकर नहीं होता?)

साँप तो जिसे डँसता है, वही मरता है; परन्तु दुर्जन डँसता किसी और को है तथा मरता कोई और है। इसका तात्पर्य यह है कि दुर्जन झूठी शिकायत (चुगली) करके किसी को भी पिटवा देता है। दुर्जन के मुँह से सदा कटुव कठोर शब्द ही प्रवाहित होते हैं। सज्जन ऐसे शब्दों से अपने मुंह को कलुषित नहीं करता।

किसी पण्डित ने एक बार कहा थाः- "आप मुझे सौ गालियाँ देकर देख लें, गुस्सा नहीं आयेगा।"

यह सुनकर महामना मदनमोहन मालवीयजी ने उत्तर दियाः- "पण्डितजी! आपके गुस्से की परख होने से पहले मेरी जीभ तो गन्दी हो ही जायेगी! मैं ऐसी भूल क्यों करूँ?"

हमें भी अपनी जीभ को गालियों की गन्दगी से बचाना है। हो सकता है, हम किसी की प्रशंसा न कर सकें; परन्तु निन्दा-चुगली-गाली से तो बचे रह सकते हैं! इतना ही काफी है। रहीम साहब ने कहा थाः-

'रहिमन' जिह्वा बावरी

कहिगै सरग-पतार।

आपु तो कहि भीतर रही,

जूती खात कपार।।

ऐसी ही दुर्दशा होती है - यदि हम वाणी का संयम न रक्खें। प्रभु महावीर "देवानुप्रिय" या "महानुभाव" कहकर ही सबको सम्बोधित करते थे।

मानवता के लिए वाणी का संयम बहुत जरूरी है। जैन शास्त्रों में मानवता को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। सबसे ऊँचा स्थान मोक्ष (सिद्धशिला) है। वहाँ पहुँचने का अधिकार केवल मनुष्य को प्राप्त है, अन्य किसी प्राणी को नहीं। अनुत्तर देवलोक के देवों को भी मोक्ष पाने के लिए मनुष्यशरीर धारण करना पडता है। मनुष्य ही सर्वज्ञ हो सकता है - चरमशरीरी हो सकता है; और कोई जीव नहीं।

एक दिन सिकन्दर ने अपने एक सज्जन सेनापति को उसके ऊँचे पदसे हटाकर देखा कि वह प्रसन्न रहता है। कारण पूछने पर उसने बतायाः- "मेरा अनुभव मेरे साथ है; इसलिए सभी वर्त्तमान सेनापति मेरी सलाह लेने आते हैं। पहले साधारण सैनिक मेरे समीप आने की हिम्मत नहीं करता था। उच्चपद के कारण मुझसे डरता था; परन्तु अब सभी सैनिक समय समय पर आवश्यक सलाह लेने के लिए निस्संकोच और निर्भय होकर मेरे पास चले आते हैं। मेरे प्रति सम्मान में कोई कमी नहीं आई है। यही मेरी प्रसन्नता का रहस्य है।"

सिकन्दरः- "फिर भी उच्चपद छूट जाने से कुछ दुःख तो आपको होता ही होगा न?"

सेनापतिः- "जी नहीं, मुझे कोई दुःख नहीं है। वेतन तो हाथ का मैल है। अधिक मिलेगा, अधिक खर्च होगा। कम मिलेगा, कम खर्च होगा। पद पर रहकर भी जो आदमी रिश्वत लेता है-अपने स्वार्थ के लिए लोगों को परेशान करता है-कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता, उसे सम्मान नहीं मिल सकता। सम्मान की प्राप्ति के लिए पद नहीं, मानवता आवश्यक है।"

इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर सिकन्दर ने उसे फिर से सेनापति पद पर नियुक्त कर दिया।

सेनापति ने मानवता के महत्त्व को समझा था और उसे आत्मसात् किया था; इसीलिए वह ऊँची-नीची हर स्थिति में हँसमुख रहता था।

जिसमें मानवता होती है, वह गुस्सा नहीं करता। यदि गुस्सा आ भी जाय तो वह किसी का बुरा नहीं सोचता। यदि कोई बुरा विचार उठ भी जाय तो उसे मुंहपर नहीं लाता (बुरी बात मुंह से बोलता नहीं) और यदि असावधानी वश बुरी बात मुंह से कभी निकल जाय तो लज्जित होकर सिर झुका लेता है। यह भाव इस प्राकृत भाषा में रचित आर्या छन्द में किसीने बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रकट कर दिया है। देखियेः-

"सुयणो न कुप्पइव्विअ

अह कुप्पइ विप्पियं न चिन्तेइ।

अह चिन्तेइ न जम्पइ

अह जम्पइ लज्जिओ हवइ।।"

जिसमें विद्या होती है, उसमें मानवता भी होगी ही -ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किसी शायरने कहा हैः-

१आदमीयत और २शै है

३इल्म है कुछ और चीज।

कितना तोते को पढाया

पर ४वो ५है वाँ ही रहा!

तोता भले ही मुँह से "राम राम" बोलता रहे; किन्तु वह नहीं जानता कि राम कौन थे और उनमें कौन-कौनसे गुण थे - इसलिए वह उन गुणों का पालन भी नहीं कर सकता। गुणों को जीवन में उतारे बिना कोई आदमी नहीं हो सकताः-

"मानता हूँ, हों फरिश्ते शेखजी

आदमी होना मगर दुश्वार है!"

कोई व्यक्ति फरिश्ता (देव) हो सकता है, परन्तु आदमी (मानव) होना बहुत कठिन है। इस शेर में मनुष्यता को ही दुर्लभ बताया गया है। मानवता हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।

एक विद्यालय में निरीक्षक महोदय पहुँचे। विद्यालय की सर्वोच्च कक्षा में जाकर छात्रों के सामने एक प्रश्न रक्खाः- "तुम विद्यालय में पढने क्यों आते हो?"

इस प्रश्न का सब छात्रों से लिखित उत्तर माँगा गया। प्रत्येक छात्र ने उत्तर लिखकर अपना कागज निरीक्षक महोदय को दे दिया।

प्राप्त उत्तरों मे से कुछ ये थेः-

"इस प्रश्नपर विचार करने के लिए अधिक समय चाहिये।"

"इस प्रश्न का उत्तर हमारी पाठ्यपुस्तक में कहीं नहीं मिलता।"

"यदि आप इसका उत्तर जानते हैं तो हमसे क्यों पूछते हैं?"

"मैं आपको समान निरीक्षक बनना चाहता हूँ।"

"मैं डॉक्टर बनना चाहता हूँ।"

"मैं इंजीनियर बनना चाहता हूँ।"

"मैं बैरिस्टर बनना चाहता हूँ।"

"मैं मिनिस्टर बनना चाहता हूँ।"

"मैं मास्टर बनना चाहता हूँ।"

"मैं मनुष्य बनना चाहता हूँ और मनुष्यता क्या चीज है? उसे समझने के लिए विद्यालय में पढने आता हूँ।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्तिम उत्तर को सर्वश्रेष्ठ माना गया और जिसने वह उत्तर दिया था, उसे पुरस्कार भी दिया गया।

"विद्ययाऽमृतमश्नुते।।"

(विद्या से अमृत का भोग किया जाता है।)

वह अमृत मानवता ही है!

अहंकार और ममता

अहंकार और ममता मोहराजा के दो महामन्त्री हैं। जहाँ नमस्कार है, वहाँ साधना है और जहाँ अहंकार है, वहाँ विराधना है। इसी प्रकार समता से साधना और ममता से विराधना का सम्बन्ध है।

जीवन रूपी दूध को अहंकार की फिटकरी का टुकडा फाड़ देता है। इसके विपरीत नमस्कार या विनयधर्म रूपी मिश्री का टुकड़ा जीवनरूपी दूध को मधुर बना देता है।

बाहुबली ने दुष्कर तप किया था; किन्तु मन में अहंकार ताण्डव नृत्य कर रहा था; इसलिए केवलज्ञान प्राप्त न हो सका। फिर ब्राह्मी और सुन्दरी नामक अपनी साध्वी बहनों से जब यह सुनाः-

"वीरा! म्हारा गजथकी उतरो

गज चढ्याँ केवल न होय।।"

(हे मेरे भाई! हाथी से नीचे उतरो; क्योंकि जो हाथी पर बैठा रहता है, उसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।)

तब तपस्यारत महामुनि को यह समझ में आया कि मैं जिस हाथी पर सवार हूँ, वह सूँडवाला पशु नहीं, किन्तु अहंकार है, जो मेरे केवलज्ञान में बाधक है। मेरी इस तपस्या के मूल में ही अहंकार है। मैं अपने पूर्वदीक्षित भाइयों को वन्दन करने से बचने के लिए तपस्या के द्वारा केवलज्ञान पाने के प्रयत्न में लगा था। ये साध्वी बहनें ठीक ही कह रही हैं। मुझे अहंकाररूपी हाथी से नीचे उतरना ही होगा।

ऐसा सोचकर अपने दीक्षित लघु भ्राताओं को वन्दन करने के लिए ज्यों ही उन्होंने कदम बढाया कि तत्काल उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

इसी प्रकार गणधर प्रवर गौतम स्वामी के केवलज्ञान में ममता बाधक थी। उनमें अहंकार तो बिल्कुल नहीं था; परन्तु प्रभु महावीर के प्रति मोह था - तीव्र अनुराग था - ममता थी। यही कारण है कि प्रभु का निर्वाण होने के बाद वे रोने लगे। फिर चिन्तन ने पलटा खाया। रुदन की व्यर्थता समझ में आई। आत्मा की पहचान हुई और तब केवलज्ञानी बने।

आत्मा की पहचान न होने से कैसी दुर्दशा होती है? एक दृष्टान्त द्वारा यह बात स्पष्ट होगी।

एक बुढिया शहर से अपने गाँव की ओर जा रही थी। चलते-चलते शाम होने लगी। तभी सामने से आनेवाले एक मुसाफिरने उससे कहा- "माताजी! लौट चलिये। आगे घोर जंगल है। दिन अस्त होने पर जंगल में रात का राजा आपको मार डालेगा।"

बुढिया तो उस मुसाफिर के साथ पास के एक अन्य गाँव में चली गई; परन्तु मुसाफिर की कही हुई बात वहीं पास की झाड़ी में छिपा हुआ एक सिंह सुन रहा था। वह सोचने लगा कि जंगल का राजा तो मैं ही हूँ, पर यह "रात का राजा" कौन है? पता नहीं, वह कैसा है-कितना बलवान् है।

कुछ ही समय बाद अपने खोये हुए एक गधे को ढूंढता हुआ कोई कुम्भकार वहाँ आ पहुँचा। अंधेरे के कारण सिंह को गधा समझकर उसने उसकी पीठपर लाठी का एक प्रहार किया। सिंहने समझा कि यही है रात का राजा! अन्यथा मुझपर प्रहार करने का साहस कौन कर सकता है?

फिर कुम्भकार सिंह को घसीटकर अपने घर के बाड़े में ले गया और उसे अपने अन्य गधों के साथ खूँटेसे बाँध दिया। प्रातःकाल कुम्भकार की पत्नी ने जब सिंह को देखा तो उसके मुँहसे चीख निकल गई। चीख से जागकर कुम्भकार भी वहाँ आया और गधों के टोले में सिंह को देखकर थर थर काँपने लगा।

सिंह की समझ में आ गया कि जंगल का राजा भी मैं ही हूँ और रातका राजा भी। बन्धन तोड़कर वह पुनः जंगल में

चला गया। स्वतन्त्र हो गया।

हमारी आत्मा भी गधों के टोले में बँधे हुए सिंह के समान है। उसमें प्रभु महावीर की तरह ही अनन्त ज्ञान-दर्शन पाने की शक्ति है; परन्तु हम संसारी जीवों के साथ अनादिकाल से रहने के कारण अपने स्वरूप को नहीं पहचानते। यही दुःखका प्रमुख कारण है।

आत्मा की पहचान से भ्रम का परदा हट जाता है।

मनुष्य भव साधना के लिए मिला है - लोक और परलोक सुधारने के लिए मिला है, बिगाड़ने के लिए नहीं। अहंकार और ममता के कारण पाप करते समय प्राणी यह भूल जाता है कि मैं अकेला आया था अकेला ही जानेवाला हूँ:-

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे

भार्या गृहद्वारि जनःश्मशाने।

देहश्चितायां परलोक मार्गे

कर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।

[धन जमीन में (पहले बैंक नहीं थे। धन जमीन में गाड़ दिया जाता था।), पशु बाड़े में, पत्नी घर के दरवाजे तक, कुटुम्बी श्मशान तक और शरीर चिता तक ही अपने साथ रहता है। उसके बाद कर्मों की गठरी उठा कर जीव अकेला ही जाता है। दूसरा कोई भी उसके साथ नहीं जाता।]

मोहान्ध बिल्वमंगल मुर्दे को तैरता हुआ लकड़ी का पटिया समझता है और विषधर साँप को रस्सी! वह भूल जाता है कि जिस रूप रंग और यौवन पर मैं आसक्त हूँ, वह नश्वर है।

अहंकार रूपी वृक्ष पर ममता की हरियाली छाई रहती है और दुर्गुण रूपी विविध पक्षी वहाँ आकर अपने घोंसले बना लेते हैं।

ऐसी स्थिति में सद्गुरुदेव का सत्संग ही सद्गुणों की सुगन्ध से जीवन को सुवासित कर सकता है। ममता के स्थान पर समता की स्थापना कर सकता है। अहंकार के स्थानपर नमस्कार महामन्त्र को प्रतिष्ठित कर सकता है।

चातुर्मास में जिस प्रकार कृषक धरती की खेती करता है, उसी प्रकार धार्मिक जीव आत्मा की। आत्मा को कोमल बनाने के लिए वह सामायिक करता है, जो साधना का प्रथम सोपान है।

स्थिर दीपशिखा सुन्दर लगती है। स्थिर मनोवृत्ति भी उससे कम सुन्दर नहीं होती। मन को शान्त और स्थिर करने के लिए सामायिक की जाती है।

समुद्रतल में डुबकी लगाकर गोताखोर जिस प्रकार मोती प्राप्त करता है, उसी प्रकार साधक सामायिक द्वारा अन्तःकरण में डुबकी लगाकर शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। मोती पाने पर जितना आनन्द गोताखोर को मिलता है, उससे हजारों गुना अधिक आनन्द आत्मदर्शन से होता है।

सामायिक का साधक चरबी वाले वस्त्र, कॉडलीवर आइल, क्रूम के बूट आदि हिंसाजन्य साधनों का उपयोग नहीं करता। उसका आदर्श होता है - "सादा जीवन उच्च विचार!" वह शरीर को नहीं, आत्मा को ही अलंकृत करने का ध्यान रखता है। उसके मुखमंडल पर ब्रह्मचर्य का तेज होता है। उसके जीवन में पवित्रता की सुगन्ध होती है। कारुण्य भाव उसके अन्तस्थल से छलकता रहता है।

सामायिक में बैठे हुए महाराज कुमारपाल को एक मकोड़े ने काट लिया। चमडी में मकोड़ा अपनी अगली टाँग इस तरह चुभो देता है कि यदि उसे हटाया जाय तो वह टूट जाता है मर जाता है। करुणार्द्र कुमारपाल ने उसके दंश की वेदना सह ली। इतना ही नहीं, बल्कि मांससहित अपने शरीर की वह चमडी काट कर अलग कर दी। इस प्रकार उसे खुराकसहित अभयदान किया।

चरमतीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने एक बार पूणियाश्रावक की सामायिक के फलकी प्रशंसा की थी। महाराज श्रेणिक उस श्रावक की एक सामायिक का फल पाने के लिए अपना समस्त राज्यवैभव छोडने को तैयार हो गये थे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इससे जाना जा सकता है कि सामायिक का स्थान कितना ऊँचा है!

कष्टों को जो शान्तिपूर्वक सहन करता है, वही कुटिल कर्मों का दहन कर सकता है। बाईस परीषहों और विविध उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करके ही प्रभु महावीर कर्मनिर्जरा के द्वारा आत्मशुद्धि कर सके - केवलज्ञान पा सके-मोक्ष में जा सके।

पृथ्वी सहन करती है, इसीलिए फसलें पैदा करने में सफल होती है। माता सहती है, इसीलिए पूजनीया मानी जाती है। पत्थर सहता है (छेनीके प्रहार), इसीलिए प्रतिमा के रूप में अर्चित होता है। साधु सहता है; इसीलिए सम्माननीय बनता है।

महात्मा सुकरात की पत्नी झेंथापी बडी कर्कशा थी। एक दिन क्रुद्ध होकर वह बकझक करने लगी। उसके शब्दों पर उपेक्षा करके महात्माजी एक पुस्तक पढ़ते रहे। इससे वह और अधिक चिढ गई। थोडी देर बाद पुस्तक रखकर जब वे घर से बाहर निकलने लगे, तभी रसोईघर का गन्दा पानी बाल्टी में भर कर पत्नी ने उनके शरीर पर उड़ेल दिया।

इस पर महात्मा सुकरात ने हँसकर कहाः- "बादल पहले तो गरजे और फिर बरस पडे!"

इससे पत्नी का गुस्सा शान्त हो गया और वह भी खिलखिलाकर हँस पड़ी। यह था सहनशीलता का चमत्कार!

कहने का तात्पर्य यह है कि नमस्कार के द्वारा अहंकार पर और सामायिक से प्राप्त सहिष्णुता या समता के द्वारा ममता पर विजय पाकर ही साधक अपनी आध्यात्मिक साधना में सफल होता है; अन्यथा नहीं।

कुछ पर्व

प्रभु ऋषभदेव को बारह महीनों तक शुद्ध आहार नहीं मिला। धीरज के साथ क्षुधापरीषह वे सहते रहे। इस तपस्या से कर्मक्षय का सहज अवसर मिल रहा है - यह मानकर मन-ही-मन वे सन्तोषामृत का पान करते रहे।

अन्त में वैशाख शुक्ला द्वितीया की रात्रि को देखे एक स्वप्न के अनुसार श्रेयांसकुमार ने तृतीया को गन्ने के रस से उन्हें पारणा कराया। तब से वर्षीतप के पारणे इसी अक्षय तृतीया के दिन होते हैं। वर्षी तप धैर्य और समता का रसायन है। तप से शरीर भले ही क्षीण हो जाय, परन्तु आध्यात्मिक गुणों में वृद्धि के कारण मुखमण्डल पर तेजस्विता छा जाती है।

भगवान् महावीर की अन्तिम देशना (ढाई हजार वर्ष पूर्व) जिस दिन हुई थी, उसी को दीपावली कहते हैं। उस दिन सोलह प्रहर तक प्रभु ने अखण्ड उपदेश दिया। वह उपदेश उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीस अध्ययनों के रूप में आज भी हमारे सामने मौजूद है।

ब्राह्मण देवशर्मा को प्रतिबोध देने के लिए प्रभु ने अन्तिम समय में अपने प्रिय शिष्य गौतम को भेज दिया। आज्ञा, विनय और अनुशासन के मूर्त्त रूप गौतमस्वामी चले गये और इधर दीपक का निर्वाण हो गया। ज्ञान ज्योति बुझने पर लोगों ने दीपक प्रज्वलित किये। घरों में दीपक की कतारें लगा दीं; इसीलिए वह दीपावली कहलाई।

प्रभु ने निर्वाण पाया - ऐसा सुनते ही गौतम स्वामी छोटे बच्चे की तरह रोने लगे। उनके आँसुओं से उन के मन का राग धुलने लगा। रातभर चिन्तन करते रहे और प्रातःकाल होते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इस प्रकार सर्वत्र हर्ष छा गया। महावीर स्वामी के बदले गौतम स्वामी के रूप में उस दिन समाज को नया धर्मोपदेशक मिल गया था।

यद्यपि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना के लिए कोई निश्चित तिथि नहीं होती, निरन्तर इन गुणों की साधना की जा सकती है; फिर भी श्रुतज्ञान की आराधना के लिए आचार्यों ने वर्ष में एक तिथि निर्धारित कर दी है, जिसे "ज्ञानपञ्चमी" कहते हैं।

उस दिन तीन प्रकार से ज्ञान की पूजा की जाती हैः-

(क) ज्ञान के साधक की पूजा

(ख) ज्ञान के साधनों की पूजा

(ग) ज्ञान की पूजा

ज्ञानियों को वन्दन करना पहला प्रकार है। इससे हमें भी ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है।

ज्ञान धर्मग्रन्थों के रूपमें हमारे पास सदा उपलब्ध रहता है। गुरुदेव तो विहार करके अन्यत्र चले जाते हैं; परन्तु ग्रन्थ कहीं नहीं जाते। वे ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं। उन्हें संभालना, उन पर जिल्द चढाना, उन्हें सुरक्षित स्थान पर रखना, उन पर धूल न बैठने देना - कीडे न लगने देना हमारा कर्त्तव्य है। चातुर्मास में बरसात के कारण वातावरण में नमी (गीलापन) होने से पुस्तकें भी प्रभावित होती हैं; इसलिए चातुर्मास के बाद (धूप तेज होती है, उसका उपयोग कर के) ज्ञानभंडार (ग्रन्थागार) का प्रतिलेखन किया जा सकता है। यह दूसरा प्रकार है।

पुस्तकें प्रकाशित करना, उन्हें स्वयं पढ़ना और दूसरों को पढ़ने के लिए भेंट करना, जो ज्ञान हमने प्राप्त किया है, उसे चर्चा द्वारा, प्रवचन द्वारा अथवा पुस्तकें लिखकर दूसरों को परोसना ज्ञानपूजा का तीसरा प्रकार है।

तीनों प्रकारों से ज्ञान की आराधना करना ज्ञानपञ्चमी मनाने का उद्देश्य है।

संक्षेप में अक्षय तृतीया, दीपावली और ज्ञानपंचमी - इन तीन पर्वों का परिचय देने के बाद चौथे पर्व कार्त्तिक पूर्णिमा पर थोड़ी विस्तृत चर्चा करेंगे।

कार्त्तिक पूर्णिमा को तीन कारणों से महत्त्व प्राप्त हुआ है। उस दिन श्रावक-श्राविकाओं का समूह महातीर्थ शत्रुंजय की यात्रा करता है। प्रातःकाल चार बजे से ही सिद्धाचल की तलहटी पर प्रबल उत्साह और हर्षोल्लास से एकत्र युवकों और युवतियों ही नहीं, बच्चों और बूढों तक की भीड में भक्तिभावना देखकर भला किसका हृदय गद्गद् नहीं हो जाता?

सिद्धाचलजी की यात्रा क्या है? मानो सिद्धशिला की ही यात्रा है वह! जहाँ पहुँच कर अनन्त यात्रियों ने अपने भावों को पवित्र किया है - तपस्या से कर्मनिर्जरा कर के परमपद (मोक्षधाम) पाया है और जहाँ के मंगलमय पुद्गलों के स्पर्शमात्र से रोमांचित शरीर के अन्तःकरण में धर्मध्यान की पावन सुरसरिता प्रवाहित होने का अनुभव सभी भव्यजनों को होता रहा है और आज भी होता है।

दूसरा कारण है - साधुसाध्वियों का विहार। वे मुक्तविहारी होते हैं। किसी स्थानविशेष पर उन की आसक्ति नहीं होती। कहावत हैः-

"बहता पानी निर्मला

बँधा सो गन्दा होय।

साधू तो रमता भला

दाग न लागे कोय।।"

इसलिए चातुर्मास समाप्त हो जाने के कारण उस दिन सभी पंचमहाव्रतधारी साधु-साध्वी अन्यत्र विहार कर जाते हैं।

तीसरा कारण है - कलिकालसर्वज्ञ ३ क्रोड श्लोक के रचयिता धुरन्धर विद्वान् जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी की जयन्ती।

संवत् ११४१ की कार्त्तिक पूर्णिमा को जन्म लेनेवाले हेमचन्द्राचार्य की दीक्षा संवत् ११५४ में हुई थी। जन्मनाम चंगदेव था। दीक्षा के समय उनका नाम सोमचन्द्र रक्खा गया; किन्तु संवत् ११६६ में सूरिपद प्राप्ति के समय से उन्हें हेमचन्द्राचार्य कहा जाने लगा।

वे अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। तेरह वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हो जाने के कारण जीवनभर वे ब्रह्मचारी बने रहे। उन्होंने अपने गुरुदेव से शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया। उनके प्रबल पाण्डित्य का तत्कालीन सभी विद्वान् लोहा मानते थे।

उन्होंने विपुल एवं विविध साहित्य की रचना की थी। व्याकरण, कोष, छन्द, काव्यशास्त्र, चरित्र, महाकाव्य आदि सभी विद्याओं पर आपने सफलतापूर्वक मौलिक ग्रन्थ लिख कर गुजरात को ही नहीं, सारे भारतवर्ष को विश्वसाहित्य के मंच पर गौरवान्वित किया है।

आपका सबसे बडा ग्रन्थ है- "सिद्धहैमम्"। यह विशाल, किन्तु सरल व्याकरण है। पाणिनि के बाद ऐसा व्याकरणकार अब तक कोई नहीं हुआ है। पाणिनीय व्याकरण की तरह इसमें भी आठ अध्याय हैं। पाणिनि ने सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का और आठवें अध्याय में वैदिक-व्याकरण का समावेश किया है, उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का और आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण का समावेश किया है।

दूसरा ग्रन्थ है- "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्"। इसमें त्रेसठ महापुरुषों के जीवनचरित्रों का छत्तीस हजार श्लोकों में वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त "अभिधानचिन्तामणिः" ("अमरकोष" की तरह पद्यात्मक शब्दकोष), वीतरागस्तुतिः ("स्याद्वादमंजरी" नामक दार्शनिक ग्रन्थ की व्याख्या), देशी नाममाला (कोष), योगशास्त्रम्, काव्यानुशासनम् (साहित्यशास्त्र), छन्दोऽनुशासनम्, द्वयाश्रयमहाकाव्यम्, परिशिष्टपर्व, शब्दानुशासनम्, अनेकार्थसंग्रहः (कोषग्रन्थः) आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

पूर्णिमा को जन्म लेकर आचार्यश्री ने जीवन में पूर्णता प्राप्त की, गुजरात में अहिंसा धर्म का व्यापक प्रचार किया और महाराजा सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल भूपाल के जीवन को धार्मिक दिशा में मोड़ दिया। श्रीकृष्ण के उपदेश को जिस प्रकार अर्जुन ने ग्रहण किया था, उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य के उपदेश को कुमारपाल भूपाल ने ग्रहण किया और "परम आर्हत" का पद प्राप्त किया।

आचार्यश्री के उपदेश से प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैन धर्म की प्रभावना की, दुराचार का त्याग किया, जिनमन्दिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया, अमारी घोषणा ("कोई किसी पशुपक्षी की हत्या न करे" ऐसी राजाज्ञा जारी) की तथा धूम-धाम से उत्साह के साथ अनेक बार तीर्थयात्राएँ की। इन सब कार्यों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि

स्थान-स्थान पर ज्ञानभण्डार (जैन धर्म के ग्रन्थों का संग्रह) स्थापित किये, जिनकी कुल संख्या इक्कीस थी।

सूर्य के समान सर्वत्र जैनधर्म का प्रकाश फैलाने वाले जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने संवत् १२२९ में अर्थात् अठ्यासी (८८) वर्ष की अवस्था में संलेखना के साथ शान्तिपूर्वक अपने जर्जर नश्वर शरीर का परित्याग किया।

उनके चिरवियोग से पूरा जैनजगत् शोकमग्न हो गया था; फिर भी उनके ग्रन्थों का अध्ययन करते समय ऐसा लगता है कि वे आज भी हमारे सामने मौजूद हैं।

सम्यक्त्व

विवेक आत्माका मित्र है, मिथ्यात्व उसका शत्रु तत्त्वार्थसूत्रमें:-

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः

।। अध्याय ८ सूत्र १ ।

(मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग पाँच बन्ध के हेतु हैं)

ऐसा लिखकर वाचक प्रवर उमास्वाति ने मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का कारण माना है।

मिथ्यात्व के दो रूप होते हैं। पहला है - यथार्थ पर अश्रद्धा और दूसरा है - अथार्थ पर श्रद्धा।

दोनों में अन्तर यह है कि पहला बिल्कुल मूढ अवस्था मे भी हो सकता है, किन्तु दूसरा विचारदशामें ही हो सकता है पहला अनभिगृहीत मिथ्यात्व है, जो कीट पतंगोंमें या उनके समान मूर्छित चेतना वाली जातियों में हो सकता है; परन्तु दूसरा अभिगृहीत मिथ्यात्व कहलाता है। यह मनुष्य जैसे मननशील प्राणी में ही संभव होता है। जो विचार करता है वही किसी पर श्रद्धा कर सकता है - भले ही वह (श्रद्धेय यथार्थ हो या अयथार्थ।

शंका करना मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु शंका मन में रखना मिथ्यात्व है। गीतार्थ गुरुदेव के सामने प्रश्नों के रूप में अपनी शंका प्रस्तुत करके उसका समाधान प्राप्त कर लेना चाहिये इसके बाद जो यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न होगी, वही सम्यक्त्व का हेतु बनेगी। उसी से आचरण की प्रेरणा मिलेगी।

धार्मिक व्यक्ति, घर में हो या जंगल में, कभी अकेलापन महसूस नहीं करता। धर्म या सम्यक्त्वरत्न ही उसका साथी बन जाता है। उसके मन, वचन और वर्तन में एकता होती है:-

मनस्येकं वचस्येकम्

कर्मण्येकं महात्मनाम्।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्

कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

(महात्माओं के मन, वचन और कार्य में एकता होती है, किन्तु दुरत्माओं के मन, वचन और कार्य में भिन्नता होती है)

सज्जन जैसा सोचते हैं, वैसा ही बोलते हैं और जैसा बोलते हैं, वैसा ही करते हैं; परन्तु दुर्जन सोचते कुछ हैं, कहते कुछ दूसरा ही हैं और करते कुछ तीसरा ही हैं; इसीलिए वे विश्वासपात्र नहीं हो पाते।

अनुभवी सज्जनों के वचन जीवन को प्रकाश देते हैं- नई दिशा दिखाते हैं - मार्गदर्शन करते हैं; अतः प्रतिदिन कुछ समय सत्संग के लिए निकालना चाहिए।

जगत्में धनिक भी दुःखी हैं और निर्धन भी। एक अधिक खाकर मरता है और दूसरा भूखों मर जाता है; परन्तु ज्ञानी सज्जन को छोड़कर कोई सुखी नहीं है।

"तिन्नाण तारयाणं"

ज्ञानी स्वयं तैरते ही हैं, दूसरों को भी तैराते हैं। ज्ञान के साथ क्रिया भी जरूरी है:-

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।।

ज्ञान और क्रिया के दो पंखों पर उड़कर ही सज्जन रूपी पक्षी मोक्ष तक पहुँचता है। ज्ञान की लौ के साथ ज्ञानी क्रिया का तेल भरना नहीं भूलते। क्रिया अथवा सदाचार रूपी तेल के बिना ज्ञान का दीपक कब तक टिमटिमाता रहेगा?

ज्ञान की तृप्ति क्रिया के आहार (सदाचार) से ही होती है। ज्ञान प्रभु की पवित्र वाणी के श्रवण से आता है। वाणी ज्ञानी गुरुदेव सुनाते हैं। वाणी सुनकर उसके अनुसार आचरण किया जाय तो आत्मा उन्नति के उत्तुंग शिखर पर चढ़ने लगेगी।

प्रभु की पवित्र वाणी जहाँ बरसती हो, वहाँ तत्काल उससे मस्तिष्क रूपी टंकी भर लेनी चाहिए। फिर गुरुवियोग होने पर (विहार कर जाने पर) टंकी खोली जाय और ज्ञानरस का उससे पान किया जाय। गुरुदेव के अभाव में उनके प्रवचनों के संकलन पुस्तकों के रूप में उपलब्ध हों तो अवकाश के समय उनका बार-बार स्वाध्याय किया जा सकता है। इस प्रकार उपदेशामृत में मन को नहलाकर उसे पवित्र करने का प्रयास सभी कर सकते हैं, जिससे सम्यक्त्व का सर्जन हो और मिथ्यात्व का विसर्जन।

जड़ हीरा परखने की योग्यता पाने के लिए जौहरी को हजार दिन लग जाते हैं तो सचेतन आत्मा को परखने की योग्यता क्या आसानी से मिल जायेगी? स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करके उपाधिधारी (एम्. ए.) बनने के लिए यदि सोलह वर्ष लग जाते हैं तो सम्यक्त्वधारी बनने के लिए चार पाँच वर्ष भी नहीं लगेंगे क्या? यदि आप प्रतिदिन केवल दो गाथाएँ समझकर कण्ठस्थ करने का नियम बना लें तो पाँच वर्षों की अवधि में साढ़ें तीन हजार से अधिक गाथाएँ आपके मस्तिष्क में संकलित हो जायेंगी। "बूँद-बूँद से घड़ा भरता है" यह कहावत आप के जीवन में चरितार्थ हो जायेगी। आप श्रुतज्ञानी बन जायेंगे।

आपका श्रुतज्ञान आपको आचरण की प्रेरणा देगा। इस प्रकार सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व), स्म्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र आपके जीवन को भूषित करेगा।

पहले भौतिक सुखसामग्री उतनी नहीं थी, जितनी आज है; फिर भी उन लोगों का जीवन सुखी था - शान्त था; परन्तु आज सामग्री सैकडों गुनी हो गई है; फिर भी सुख-शान्ति का अभाव है। सुख भीतर रहता है। बाहर दौड़-धूप करने से वह नहीं मिल सकता। दूर से सुख दिखाई देता है; परन्तु निकट जाने पर निराश होना पड़ता है; रात को सड़क पर प्रकाश देखकर एक बुढिया वहाँ आई और कुछ ढूँढने लगी। पूछने पर उसने बताया कि मैं अपनी सुई ढूँढ रही हूँ। लोगों ने पूछाः- "कहाँ खोई थी सुई?"

बुढियाः- "घर में खोई थी!"

लोगः- "तो उसे घर में क्यों नहीं ढूंढ रही हो?"

बुढियाः- "इसलिए कि घर में प्रकाश नहीं है!"

बुढिया की मूर्खता पर हमें हँसी आती है; परन्तु भीतर सुख न देखकर उसे बाहर खोजनेवाले हम भी उस बुढिया से किसी तरह कम मूर्ख नहीं ठहरते!

सहिष्णुता और क्षमा में ही मानसिक शान्ति का निवास होता है। एक व्यक्ति किसी ज्ञानी को क्रुद्ध करने के पयास में मनमानी गालियाँ बकता रहा - निन्दा करता रहा - आरोप लगाता रहा; किन्तु ज्ञानी शान्तिपूर्वक सहता रहा। जब बकझक करके वह चुप हुआ, तब ज्ञानी ने उसे जल से भरा हुआ एक लोटा देते हुए कहाः- "लो भैया! यह जल पी लो। बहुत देर से भाषण कर रहे हो। गला सूख गया होगा।"

यह सुनकर वह व्यक्ति पानी-पानी हो गया। जल पीने के बाद उसे विचार आया कि यह तो मुझे पराजित करने की एक चाल मात्र है। मैं इस चाल में क्यों फँसूँ?

फलस्वरूप वह और भी जोरो से चिल्लाने लगा। ज्ञानी मुस्कुराता रहा। दिन अस्त हुआ। वह आदमी बोलते-बोलते थक कर चुप हो गया। ज्ञानी ने प्रेम से उसे भोजन कराया, उपहार दिया और जब वह विदा होने लगा, तब अपने पुत्र को साथ भेज दिया कि वह सुरक्षित रूप से उसे उसके घर पहुँचा आये। असफल होकर क्रोधी हमेशा के लिए अक्रोधी बन गया। अंगारा बर्फ से टकरा कर कोयला बन गया।

ऐसी ही एक घटना गालिब के जीवन की है। मौलवी अमीमुद्दीन ने सुप्रसिद्ध शायर मिर्जा गालिब के विरुद्ध एक किताब लिखी। उसे देखकर किसी ने उनसे पूछाः- "हजरत! आपने उस किताब का कुछ जवाब नहीं लिखा?"

इस पर गालिब ने कहाः- "अगर कोई गधा तुम्हें लात मारे तो क्या तुम भी उसे लात मारोगे?"

जो समर्थ होता है - वीर होता है, वही क्षमा का परिचय दे सकता हैः-

"क्षमा वीरस्य भूषणम्।।"

क्षमा से वीरों की शोभा बढ़ती है, कायरों की नहीं। महाकवि दिनकर ने ठीक ही लिखा हैः-

"क्षमा शोभती उस भुजंग को,

जिसके पास गरल हो।

उसको क्या? जो दन्तहीन

विषरहित विनीत सरल हो।

समाज में रहनेपर ही आपके सद्गुण कसौटी पर उतरेंगे। एकान्त गुफामें जहाँ क्रोध का अवसर ही नहीं आता, वहाँ यह नहीं जाना जा सकता कि आप अक्रोधी हैं - शान्त हैं - क्षमाशील हैं। व्यवहार ही वह दर्पण है, जिसमें आपका स्वभाव दिखाई देता है।

जीभ चाहे जितना घी खाले, परन्तु वह चिकनी नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानी संसार में रहकर भी उसमें आसक्त नहीं होता। जल में कमल के समान अलिप्त रहता है। संयम और तप से वह अपनी आत्मा को पवित्र करता रहता हैः-

"संजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।।"

अज्ञ अवस्था में बांधे गये कर्म सुज्ञ अवस्था में भोगे जाते हैं। "जब मैं सो जाऊँ तब संगीत बन्द करवा देना" ऐसा आदेश त्रिपृष्ठ वासुदेव ने सेवक को दिया था; परन्तु सेवक भूल से इस आदेश का पालन नहीं कर पाया। क्रुद्ध होकर वासुदेव ने उसके कानों में सीसा डलवा दिया। फिर महावीर के भव में जब कानों में कीलें ठोके जा रहे थे, तब पूर्वभव में कृत कर्मका स्मरण करके प्रभु शान्त रहे। ज्ञान ने उन्हें क्षमाशील बना दिया था। सभी सद्गुणों का कारण सम्यक्त्व है।

जीवन विकास

आचार्यों ने कहा हैः-

"मा सुयह जग्गिअव्वं,

पलाइयव्वम्मि कीस वीसमह।

तिण्णि जणा अणुलग्गा

रोगो य जरा य मच्चू य।।"

[मत सोओ, जागते रहो। जहाँ तुम्हे भागना चाहिये, वहाँ तुम विश्राम कैसे कर रहे हो? रोग, जरा (बुढापा) और मृत्यु - ये तीन लोग तुम्हारा पीछा कर रहे हैं]

यदि कोई एक दुष्ट भी हमारा पीछा कर रहा हो तो उससे बचने के लिए हम भागते हैं, फिर जहाँ तीन-तीन दुष्ट हमारे पीछे पड़े हों तो हम विश्राम करने की भूल कैसे कर सकते हैं?

परन्तु हो यही रहा है। इस भूल का भान हमें गुरुदेव कराते हैं। वे सावधान करते हैं और पुरुषार्थ करने की सलाह देते हैं।

जीवन प्राप्त करना सरल है जो प्राणी जन्म लेता है, उसे जीवन तो मिल ही जाता है; परन्तु उस जीवन को शुद्ध बनाये रखना - वैराग्य और संयम के प्रयोग से उसे विकसित करने का प्रयास करना आसान कार्य नहीं है। पानी में नाव रहे तो कोई बात नहीं; परन्तु नाव में पानी नहीं रहना चाहिये;

अन्यथा वह डूब जायेगी।

शास्त्रकार कहते हैंः-

जहा पडमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।।

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होता है, फिर भी जल से निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार संसार में उत्पन्न होकर भी ज्ञानी संसार से लिप्त नहीं होता - संसार के भौतिक कामभोग के क्षणिक सुखों में आसक्त नहीं होता। वह समझता है कि जीव प्रवासी है, वासी नहीं। संसार में कितनी भी सम्पत्ति संचित क्यों न कर ली जाय? वह सब एक दिन छूट जायेगी। मृत्यु आने पर दिनरात निकट रहने वाली पत्नी भी मुर्दे शरीर के पास बैठना पसंद नहीं करती - शरीर भी जीव के साथ नहीं जाता; फिर भला यह सम्पत्ति कैसे साथ रह सकती है?

जीवन क्षणभंगुर सपने जैसा है। सपना घंटे-दो घंटे का होता है और जीवन साठ-अस्सी अथवा अधिक से अधिक सौ सवा सौ वर्ष का! यही दोनों में अन्तर है। इस जीवनरूपी सपने का अधिक से अधिक सदुपयोग करने वाला ही बुद्धिमान् है। प्रभु महावीर ने कहा थाः-

"समयं गोयम! मा पमायए।।"

(हे गौतम! तु क्षण भर भी प्रमाद मत कर)

ज्ञानी तो द्रष्टा हैं - दर्शक हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्गपर चलना तो हमको ही पडेगा; अन्यथा हम भवसागर को पार नहीं कर सकेंगेः-

अरिहंतो असमत्थो

तारिउं जणाण भवसमुद्दम्मि।

मग्गे देसणकुसलो

तरन्ति जे मग्गि लग्गन्ति।।

(लोगों को भवसमुद्र से पार ले जाने में अरिहन्त समर्थ नहीं हैं। वे केवल मार्ग दिखाने में कुशल हैं। जो उस मार्ग पर चलते हैं, वे ही पार होते हैं)

किसी विचारक ने कहा है - "यदि कोई अच्छा काम करना है तो आज ही अभी कर डालो और यदि कोई बुरा काम है तो कल तक ठहरो।"

इसी प्रकार एक अन्य विचारक ने कहा हैः- "जो काम कभी भी हो सकता है, वह कभी नहीं हो सकता। जो अभी होगा, वही होगा!"

जो लोग कहते हैं - "धर्म तो कभी भी कर लेंगे। वह भाग कर कहाँ जाता है? बुढापे में उसका पालन कर लेंगे।" वे सब भ्रम के शिकार हैं। धर्म के लिए कोई समय निर्धारित नहीं होता। पूरा जीवन ही धर्ममय होना चाहिये; क्योंकि मौत का पता नहीं है। क्या पता वह कब आक्रमण कर दे!

"गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।।"

(मृत्यु ने केश पकड़ रक्खे हैं - ऐसा सोच कर धर्माचरण करना चाहिये)

बुढापे के भरोसे आप बैठे रहें और जवानी में ही चल बसें तो क्या होगा? उम्र लम्बी होने से बुढापा आ गया तो भी उसमें धर्म कितना होगा? उसका मूल्य क्या होगा? इस पर विचार करते हुए नीतिकार कहते हैंः-

नवे वयसि यः शान्तः

स शान्त इति मे मतिः।

धातुषु क्षीयमाणेषु

शान्तिः कस्य न जायते?

(नई अवस्था (जवानी) में जो शान्त (धार्मिक) रहता है, वही सच्चा शान्त है - ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि (बुढापे में) धातुओं के क्षीण हो जाने पर भला कौन शान्त नहीं हो जाता?)

इन्द्रियों के और आत्मा के स्वभाव में भिन्नता है। मानव जीवन इन दोनों के बीच फँस गया है। इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकर्षित होती हैं। उनका मार्ग प्रेय है। बच्चे तो बिस्कुट, टॉफी, चाकलेट और आइस्क्रीम की ओर आकर्षित होते हैं; परन्तु माता समझती है कि इन चीजों से बच्चों का स्वास्थ्य प्रभावित होगा; इसलिए वह उन चीजों से बच्चों को बचाने की कोशिश करती है। माता की तरह गुरुदेव भी इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ने वाले अज्ञानी मनुष्यों को समझाते हैं और उन्हें आत्मा के श्रेयमार्ग की ओर मोड़ते हैं, जिससे क्षणिक नहीं, स्थायी सुख सबको मिल सके।

वे समझाते हैं - शरीर से नहीं, अपने आपसे प्रेम करो। जो अपनी आत्मा से प्रेम नहीं करता, वह दूसरों से भी प्रेम नहीं कर सकता।

जो आत्मा से प्रेम करता है, वह संयमी बन जाता है। उसके सम्पर्क में आनेवाले भी संयमी बन जाते हैं; जैसे दीपक से दीपक जलते हैं।

मानव समाज में संगठन का आधार प्रेम है और विघटन का आधार द्वेष। जो फटे हृदयों को जोड़ने का काम करता है, उसका स्थान अपने आप महत्त्वपूर्ण हो जाता है - उच्च हो जाता है।

किसी ने एक दर्जी से पूछाः- "आप सुई जैसी छोटी चीज को अपनी पगड़ीमें रखते हैं और कैंची को पैरों में! ऐसा क्यों करते हैं?"

दर्जी ने उत्तर दियाः- "भाई! दर्जी अपनी मर्जी से ऐसा नहीं करते; किन्तु अपने गुणों के ही कारण इन्हें ऊँचा-नीचा स्थान मिलता है। सुई छोटी जरूर है, परन्तु यह सदा जोडने का काम करती है; इसलिए इसे पगड़ी में रखा जाता है। इससे विपरीत कैंची काटनेका-अलग करने का - फूट डालने का काम करती है; इसलिए उसे पैरों के पास रखा जाता है!"

प्रेम से संगठन होता है और संगठन में शक्ति का निवास।

सम्राट् अशोक बडी मुश्किल से कलिंग देश पर विजय पा सके थे। उसकी आश्चर्यजनक शक्ति का कारण पूछने पर कलिंग देश सम्राट् ने अशोक से कहाः- "राजन्! मैं प्रत्येक सैनिक को हार्दिक प्रेम देता हूँ। वे भी आपस में प्रेम करते हैं; इसलिए संगठित रहते हैं। यह संगठन ही शक्ति का कारण है।"

महात्मा गांधी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए एक कवि ने गाया थाः-

"तुमने अपना प्राण दिया और मौत की शान बढाई।

तुमने अपना खून दिया और प्रेम की ज्योति जलाई।।"

महात्माजी की अहिंसा और देशवासियों के प्रति उनका हार्दिक प्रेम प्रसिद्ध है।

खून से खून का दाग नहीं धुलता। उसके लिए प्रेम-जल चाहिये। डाकू रत्नाकर को एक ऋषिके प्रेमने महर्षि वाल्मीकि बना दिया था। करूणा भी प्रेम का ही एक रूप है। उसमें इतनी कोमलता होती है कि कठोर से कठोर हृदय भी (करुणा से) कोमल बन जाते हैं। हृदयरूपी पर्वत से सदा करुणा, प्रेम, वात्सल्य और दयाका झरना बहता रहे तो इस दुनिया के दुःख १नगण्य रह जायँ।

प्रभु कहते थेः-

"मित्ती मे सव्वभूएसु

वेरं मज्झं न केणइ।।"

(मेरी सब प्राणियों से मित्रता है, किन्तु शत्रुता किसी से नहीं है!)

धरती सब के लिए अन्न उत्पन्न करती है - पानी सबकी प्यास बुझाता है - हवा सभी प्राणियों को जीवित रखती है - सूर्य सबको प्रकाश देता है - पेड़ सबको फल और शीतल छाया देते हैं - फूल सबको सुगन्ध लुटाते हैं; फिर मनुष्य ही क्यों स्वार्थी और संकुचित रहे? प्रकृति की तरह मनुष्य के हृदय में भी उदारता, विशालता, प्रेम और परोपकार के दर्शन क्यों न हों?

जीवनविकास के लिए समस्त दुर्गुणों का त्याग तो जरूरी है ही, साथ ही समस्त सद्गुणों को अपनाना भी जरूरी है।

फूल में दुर्गन्ध बिल्कुल नहीं होती और सुगन्ध भरपूर होती है। जीवन भी क्या ऐसा ही एक फूल नहीं है?

जीवन का लक्ष्य

कली मुस्कुराती है तो वह विकसित होकर फूल बन जाती है। जीवन विकास के लिए भी प्रसन्नता इसी प्रकार आवश्यक है।

क्रोधादि कषाय उस प्रसन्नता को नष्ट कर देते हैं। मोह ममता और विषयासक्ति से भी यही कार्य होता है। शोक, चिन्ता, अन्याय, अत्याचार और भय भी हमारी प्रसन्नता को छीन लेते हैं। निर्बलता और भीरुता से भय उत्पन्न होता है।

एक शान्तरस के कवि का कथन है कि दुनिया में वैराग्य को छोड़कर अन्य समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध भय से होता है; क्योंकि जिस वस्तु को हम पाना चाहते हैं और पा लेते हैं, उसके नष्ट होने का भय मन में टिका रहता हैः-

"सर्व वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां

वैराग्यमेवाभयम्।।"

जब श्रीकृष्ण से अर्जुन ने पूछा कि मन को वश में करने का उपाय क्या है, तब उन्होंने उत्तर दियाः-

"अभ्यासेन तु कौन्तेय!

वैराग्येण च गृह्यते।।"

(हे अर्जुन! अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में किया जा सकता है)

श्मशान में मुर्दे को भस्म होते देखकर किसे वैराग्य नहीं होता? कौन नहीं सोचता कि हमें भी एक दिन परिश्रमपूर्वक जोड़ी गई सम्पत्ति छोडकर अकेले ही जाना होगा? परिवार का प्रियतम सदस्य भी हमारे साथ नहीं आयेगा?

"हम-हम करि धन-धाम सँवारे

अन्त चले उठि रीते!

मन पछितैहें अवसर बीते!"

धन, सत्ता, रूप, यौवन, परिवार आदि सब फुलाये हुए गुब्बारे की तरह हैं। हवा निकलते ही सब कान्तिहीन हो जाएँगे। इन पर गर्व करना व्यर्थ है। सारा संसार एक सुन्दर धर्मशाला है, जिसमें अमुक अवधि तक हमें रहना है। अवधि समाप्त होते ही पुण्य-पाप की गठरी लेकर हमें अनिवार्य रूप से आगे बढ़ना होगा। धर्मशाला में स्थायी निवास किसीका नहीं होता:-

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे

कान्ता गृहद्वारि जनः श्मशाने।

देहश्चितायां परलोकमार्गे

कर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।

[धन जमीन में (पहले धन एकान्त स्थल में गाड़कर रखा जाता था), पशु बाड़े में, पत्नी घर के दरवाजे तक, परिवार तथा अन्य बन्धुगण श्मशान तक और अपना शरीर चिता तक साथ आता है अर्थात् ये सब क्रमशः छूटते चले जाते हैं और अन्त में कर्मसहित जीव को अकेले ही यात्रा के लिए निकलना पड़ता है]

जीवन माँगकर लाये हुए गहने की तरह झूठी शान बढ़ाने के अतिरिक्त किसी काम नहीं आता!

परन्तु वैराग्य के ऐसे समस्त विचार श्मशान से घर लौटते ही गायब हो जाते हैं। संसार की क्षणिक वस्तुएँ फिर से मन को आकर्षित करने लगती हैं।

रास्ते से गुजरते हुए किसी फिल्म के पोस्टर पर नजर पड़ते ही उसे देखने की उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है। फिल्म देखे बिना वह उत्सुकता शान्त नहीं हो सकती। जब तक वह शान्त नहीं हो जाती, तब तक चित्त की एकाग्रता (जो मानसिक शान्ति के लिए आवश्यक है) कैसे रह सकती है? प्रभु महावीर बहुत ही महत्त्वपूर्ण सन्देश देते हैं:-

जयं चरे जयं चिट्ठे

जयं आसे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो

पावं कम्मं न बन्धइ।।

(सावधानी पूर्वक चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, खाने और बोलने वाले को पाप नहीं लगता!)

हमारी प्रत्येक क्रिया सावधानी पूर्वक होनी चाहिये, विवेक पूर्वक होनी चाहिये - विचारपूर्वक होनी चाहिये! यही प्रभु के सन्देश का आशय है।

जिसके सारे कार्य मर्यादित होते हैं, वही सज्जन है। वह स्वादके लिए भोजन नहीं करता। केवल शरीर को टिकाये रखने के लिए ही आवश्यक खुराक ग्रहण करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह जीने के लिए खाता है; खाने के लिए नहीं जीता!

भूख बुझाने के लिए भोजन करना अर्थदण्ड है। स्वाद की लालच में ठूँस-ठूँसकर खाना अनर्थदण्ड है। यही बात प्रत्येक कार्य में समझें। अनर्थदण्ड ही पाप का कारण होता है।

हम दूसरों को सताते हैं तो दूसरे हमें सताते रहते हैं। इस प्रकार दुनिया में पापवृद्धि के अवसर आते रहते हैं। पुण्य का फल सुख है और पाप का फल दुःख। यह जानते हुए भी लोग पाप नहीं छोड़ते। हजारों वर्ष पहले महर्षि व्यास ने लिखा था:-

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति

पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।

पापस्य फलं नेच्छन्ति

पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।

[मनुष्य पुण्य का फल (सुख) तो चाहते हैं; परन्तु पुण्य (परोपकार) करना नहीं चाहते। इसके विपरीत पाप का फल (दुःख) नहीं चाहते (फिर भी) यत्नपूर्वक पाप करते रहते हैं!]

महर्षि की बात आज भी सच्ची साबित हो रही है। मनुष्य के स्वभाव में परिवर्त्तन अब तक नहीं हो पाया है। लोहे का

टुकड़ा यदि कीचड़से भड़ा हो तो पारस के छूने पर भी वह सोना नहीं बनता। उसी प्रकार आत्मा पर अज्ञान, विषय, कषाय आदि का कीचड़ लिपटा हो, तब तक गुरुदेव के सदुपदेश का उस पर कोई असर नहीं होता।

मनुष्य को यदि स्वरूप (आत्मा के स्वभाव) का ज्ञान हो जाय तो वह मानव से महामानव बन जाय। स्वरूपज्ञ बनने के लिए सुदृढ संकल्प होना चाहिये। सुकवि श्री शान्तप्रकाश "सत्यदास" ने लिखा हैः-

यदि मैं चाहूँ तो पत्थर भी पिघला सकता हूँ

यदि मैं चाहूँ तो ईश्वर भी दिखला सकता हूँ!

मुर्दों में प्राण फूँक, फिर उठा-उठाकर उनको

यदि मैं चाहूँ तो अक्षर भी सिखला सकता हूँ!

"यदि मैं चाहूँ" अर्थात् यदि मैं ऐसा संकल्प ले लूँ तो मैं सब कुछ कर सकता हूँ। दुनियामें असम्भव या कुछ भी नहीं है।

कबीर साहब के एक दोहे का भाव यह है कि जब शिशु जन्म लेता है, तब रोता है और दूसरे हँसते हैं (प्रसन्न होते हैं)। उसे ऐसा कार्य करना चाहिये कि जब उसकी मृत्यु हो तब वह हँसे और अन्य सब लोग रोने लगे कि कितना अच्छा आदमी था! हमारे दुर्भाग्य से आज चल बसा।

परोपकारी को ही इस तरह लोग याद करते हैं। आप भी यथाशक्ति परोपकारी बनिये और यदि दूसरे लोग आपका उपकार करते हैं तो आप उनके प्रति पूरे कृतज्ञ रहिये।

कुत्ता अपने पालक की यथाशक्ति सेवा करता है। उसे कभी धोखा नहीं देता। जो व्यक्ति अपने उपकारी को धोखा देता है, वह जिस थाली में खाता है, उसी थाली में छेद करने वाला नमक हराम है-कृतघ्न है। जिसके जीवन में कृतज्ञता के स्थान पर कृतघ्नता का निवास होता है, वह व्यक्ति कुत्ते से भी गया - गुजरा होता है।

एक कृतज्ञ व्यक्ति दस परोपकारियों को पैदा करता है और एक कृतघ्न व्यक्ति सौ परोपकारियों को पैदा होने से रोक देता है।

जो आत्मज्ञ होता है, वही कृतज्ञ बन सकता है। आत्मज्ञता के लिए आवश्यक है - देव की करुणा, गुरु के उपदेश और धर्म का पालन। देव-गुरु-धर्म की अनुकूलता से जीवन में ऐसा सौम्य उज्ज्वल प्रकाश उत्पन्न होता है, जो चारों ओर शान्ति स्थापित कर सके, सर्वत्र आनन्द बिखेड़ सके, प्रेम की वर्षा कर सके।

भागते हुए किसी व्यक्ति से यदि आप पूछ लें कि "गन्तव्य स्थल कौन सा है?" और यदि वह मौन रह जाय अथवा कह दे कि "मुझे मालूम नहीं" तो आप उसे सहसा मूर्ख समझेंगे; परन्तु क्या वही मूर्खता हममें नहीं है? हम जीते जरूर हैं, किन्तु हमें अपने जीवन का उद्देश्य ही नहीं मालूम। एक साधारण कीड़ा भी एक पत्ते से दूसरे पत्ते पर किसी प्रयोजन से ही जाता है; परन्तु मनुष्य जैसे विकसित प्राणी को जीवन का प्रयोजन मालूम न हो - यह कितने आश्चर्य की बात है?

लक्ष्य निश्चित होने पर ही ठीक दिशा में प्रगति हो सकती है। श्रमण आत्मकल्याण के लिए श्रम करता है; किन्तु पुद्गलानन्दी साधारण जीव संसार में पर्यटन करने के लिए परिग्रह और पाप की पोटली बाँधने में लगा रहता है।

तराजू का काँटा स्थिर होने पर ही वस्तु का ठीक भार बताता है। उसी प्रकार स्थिर मन को ही जीवन का लक्ष्य मालूम हो सकता है। उसके लिए चिन्तन-मनन की जरूरत होती है, दौड़-धूप की नहीं।

त्याग, तप, संयम, नियम आदि के द्वारा आत्मा को सांसारिक बन्धनों से मुक्त करना ही जीवन का प्रयोजन है। जिस प्रकार लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार बताया था, वैसे ही संसार के समस्त साधु मोक्ष को प्राणियों का जन्मसिद्ध अधिकार बताते हैं। वे कहते हैं - जीव को शिव, नर को नारायण, मानव को महामानव और अहं (आत्मा) को अर्हम् (परमात्मा) बनाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है।

सच्चा जैन

लोग धर्म की बातें तो खूब करते हैं; परन्तु धर्म को अपनाते नहीं; इसीलिए दुःखी रहते हैं।

"धर्मो रक्षति रक्षितः।।"

(यदि हम धर्म की रक्षा करते हैं; तो धर्म हमारी रक्षा करता है)

धर्म की रक्षा करने के लिए आत्मा के स्वरूप को समझना पड़ेगा। आत्मा का लक्षण है - चेतना, आनन्द, ज्ञान, दर्शन और चरित्र।

शोक से आर्त्त ध्यान होता है, क्रोध से रौद्रध्यान। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से कर्मों का बन्ध होता है और जीव जन्म-जरा-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। इससे विपरीत आत्मा के स्वरूप को पहचान लेने पर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान होते हैं, जो प्राणी को मोक्ष की ओर ले जाते हैं।

कर्मों से लिपटा जीव अनादिकाल से वासना की परिधि में निवास करता रहा है। उस परिधि से धर्म ही उसे बाहर निकाल सकता है। आत्मा पर लगी कर्मरज ज्यों-ज्यों हटती जायगी, त्यों त्यों आत्मा अधिकाधिक उज्ज्वल होती जायेगी।

संसार में घड़ी के पेंडुलम (लोलक) की तरह जीव राग और द्वेष के बीच झूल रहा है। वीतराग देव की शरण में जाने पर ही उसे शान्ति प्राप्त हो सकती है। वे हमारी नौका के कर्णधार हैं। प्रभु के प्रति अनन्य श्रद्धा हो - भक्ति हो - समर्पण का भाव हो तो भवसागर ही क्यों? भौतिक सागर भी पार किया जा सकता है। जैसा कि जैनाचार्य श्री मानतुंगसूरि ने आदिनाथ स्तोत्र (भक्तामर) में लिखा हैः-

अम्भोनिधौ क्षुभित-भीषण-नक्रचक्र-

पाठीन-पीठ-भयदोल्वण-वाडवाग्नौ।

रङ्गत्तङ्ग-शिखर-स्थित-यानपात्रा-

स्त्रासं विहाय भवतःस्मरणाद् व्रजन्ति।।

(क्रुद्ध और भयंकर नक्रों के समूह एवं मगरमच्छों के कारण भयभीत करनेवाले तथा प्रचण्ड वाडवाग्नि वाले समुद्र में हिलने वाली तरंगों के शिखर पर नौका में बैठे हुए यात्री भी आपका स्मरण करने से कष्टों में न पड़कर पार हो जाते हैं।)

एक बार यात्रियों से भरा हुआ एक जहाज समुद्र की सतह पर चला जा रहा था कि सहसा एक भयंकर तूफान आया। उससे जहाज डगमगाने लगा। एक श्रावक यह देखकर प्रभु का ध्यान करने बैठ गया। उसकी पत्नी ने कहाः- "यह तो डूब मरने का समय है; ध्यान करने का नहीं!"

यह सुनकर पति ने पिस्तौल उठाकर पत्नी को निशाना बनाया। पत्नी मुस्कुराने लगी। पतिने कारण पूछा तो उसने कहाः- "मुझे पूरा विश्वास है कि तुम मुझ पर गोली नहीं चलाओगे; इसीलिए तुम्हारे इस अभिनय पर मुझे हँसी आ गई।"

इस पर पतिने कहाः- "जैसे तुम्हें मुझपर विश्वास है, वैसे ही मुझे प्रभुपर विश्वास है; इसीलिए मैं निश्चिन्त होकर उनका ध्यान कर रहा हूँ।"

कुछ समय बाद सचमुच आशा के अनुरूप तूफान शान्त हो गया।

जैसे शिव का भक्त शैव, विष्णु का भक्त वैष्णव और बुद्ध का भक्त बौद्ध कहलाता है, वैसे ही जिन का भक्त जैन है।

राग-द्वेष के विजेता को जिन कहते हैं। जिन देव निष्पक्ष होते हैं - परम विवेकी होते हैं। वे चाहते हैं कि उनके अनुयायी भी निष्पक्ष और विवेकी बनें।

हंस जिस प्रकार पानी छोड़ कर दूध पी लेता है, वैसे ही विवेकी सद्गुण सबसे ग्रहण करता है और दुर्गुण छोड़ देता है। इसके विपरीत अविवेकी कुप्पी (कीप या छन्नी) के समान कचरे जैसे दुर्गुणों को ग्रहण करता है और सद्गुणों को छोड़ देता है।

परम विवेकी प्रभु ने अशान्त जगत् को शान्त करने के लिए, विविध विवादों को सुलझाने के लिए तथा सच्चे ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रकट किया है। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कहते हैं। आइंस्टीन इसी को सापेक्षवाद कहता था।

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों से एक वस्तु को देखना सिखाता है। वह सलाह देता है कि किसी वस्तु को ठीक तरह से समझने के लिए (जरूरी है कि उसे) आप केवल अपनी ही नहीं, किन्तु दूसरों की आँखों से भी देखने का प्रयास करें।

"एकस्मिन्वस्तुन्यविरुद्धनानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वादः।"

(एक वस्तु में अविरोधी अनेक धर्मों की स्वीकृति स्याद्वाद है)

बड़े मुल्लाने पत्नी से कहाः- "थोड़ा-सा पनीर ले आओ। वह भूख बढाता है।"

पत्नी बोलीः- "अजी! पनीर तो घर में नहीं है। कैसे लाऊँ?"

मुल्लाः- "यह तो अच्छी बात है; क्योंकि पनीर दाँतों की जड़ों को कमजोर बनाता है।"

पत्नीः- "आपने पनीर के विषय में दो अलग-अलग बातें कही हैं। एक से वह अच्छा मालूम होता है और दूसरी से बुरा। दोनों में से कौन सी बात मानी जाय?"

मुस्कुराते हुए मुल्लाजी बोलेः- "बातें दोनों सच्ची हैं; परन्तु मानना अपनी परिस्थिति पर निर्भर है। यदि घर में पनीर हो तो पहली बात मान लो और न हो तो दूसरी।"

यह है स्याद्वादी उत्तर। व्यवहार में स्याद्वाद की कदम कदम पर जरूरत होती है। यही कारण है कि आचार्यों ने अनेकान्त को वन्दन करते हुए कहा हैः-

जेण विणा लोगस्सवि

ववहारो सव्वहा न निव्वडई।

तस्स भुवणेक्क गुरुणो

णमो अणेगंतवायस्स।।

(जिसके बिना लोक का व्यवहार भी बिल्कुल चल नहीं सकता, संसार के एक मात्र गुरु उस अनेकान्तवाद को नमस्कार हो)

एक ही व्यक्ति किसी का पति है, किसी का पिता, किसी का पुत्र और किसी का भाई! क्या विरोध है इसमें? पत्थर छोटा होता है या बड़ा? इस प्रश्न का उत्तर बिना अनेकान्त के दिया ही नहीं जा सकता। कहना पड़ेगा कि वह कंकड़ से बड़ा होता है और चट्टान से छोटा। इस प्रकार एक ही पत्थर "छोटा" भी है और "बड़ा" भी! जहाँ विभिन्नता में एकता के दर्शन होते हैं - अनेकता का अन्त हो जाता है, वही अनेकान्त है। इसी सिद्धान्त के द्वारा महाश्रमण महावीर ने तीन सौ तिरसठ (३६३) मतों का समन्वय किया था।

'जन' और 'जैन' में केवल दो मात्राओं का अन्तर है। एक मात्रा विचार की है और दूसरी आचार की। विचारों में जिसके अनेकान्त हो और आचार में अहिंसा, वही व्यक्ति "जैन" कहलाता है। विचार और आचार की शुद्धि के द्वारा कोई भी जन जैन बन सकता है। दो पंखों से उड़नेवाले पक्षियों में कोई भेदभाव नहीं होता, उसी प्रकार विचार और आचार के दो पंख जुड़ जाने पर बिना किसी जातिभेद के कोई भी जन "जैन" बनकर संसाररूपी जंगल में उड़ानें भर सकता है।

अधिक कीचड़ और कम पानी जहाँ हो, वहाँ हाथी फँस जाता है; किन्तु इससे विपरीत कम कीचड़ और अधिक पानी हो, वहाँ हाथी पार निकल जाता है। उसी प्रकार संसार में वही प्राणी भटकता है, जिसके जीवन में अधिक पाप और कम पुण्य हो। इसके विपरीत अधिक पुण्य और कम पाप वाला प्राणी धीरे-धीरे पार हो जाता है। पुण्य और पाप का यह विवेक जैन धर्म सिखाता है।

अहंकार से पापों में वृद्धि होती है; इसलिए जैन धर्म ने नमस्कार का महामन्त्र दिया है। विनय अहंकार का विरोधी है। विद्यासे विनय आता है। फल आने पर आम की शाखाएँ झुकती हैं; किन्तु ताड़की शाखाएँ ऊँची हो जाती हैं। आम मधुर है और ताड़ मादक। विनय मधुर है और अहंकार मादक। बीज से फल पैदा होता है और फल से बीज! इसी प्रकार विद्या से विनय उत्पन्न होता है और विनय से विद्या आती है; क्योंकि विनीत शिष्य को ही गुरुदेव शास्त्रों का रहस्य समझाते हैं, अविनीत को नहीं। अविनीत या अहंकारी अपने को बहुत बड़ा ज्ञानी समझ लेता है; इसलिए उसका विकास रुक जाता है। वह और अधिक समझना ही नहीं चाहता; इसलिए कोई उसे समझा भी नहीं सकता। कहा हैः-

अज्ञः सुखमाराध्यः

सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

ज्ञानलवदुर्विदग्धम्

ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति।।

(अज्ञानी को सरलता से समझाया जा सकता है। विशेष ज्ञानी को और भी अधिक सरलता से समझाया जा सकता है; परन्तु थोड़ा-सा ज्ञान पाकर जो अपने को महान् पण्डित समझ लेता है, उसे तो स्वयं ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता!)

हिन्दी में कहावत हैः- "थोथा चना, बाजे घना!" इसी आशय को संस्कृत की इस सूक्ति में बहुत पहले ही नीतिकारों ने प्रकट कर दिया थाः-

"अल्पविद्यो महागर्वः।।"

(जिस में विद्या कम होती है, वह घमण्ड अधिक करता है)

संक्षेप में जो प्रभु का अनन्य भक्त है - जिसका विचार अनेकान्त से और आचार अहिंसा से अलंकृत होता है तथा जो विनयपूर्वक विद्या का अध्ययन करता रहता है, वही सच्चा जैन है।

गुरु-शिष्य

'गु' शब्दस्त्वन्धकारःस्याद्

'रु' शब्दस्तन्निरोधकः।

अन्धकार निरोधित्वाद्

गुरुरित्यभिधीयते।।

('गु' का अर्थ है - अन्धकार और 'रु' का अर्थ है निवारक। अज्ञानरूपी अन्धकार का निवारक होने से ही किसी व्यक्ति को 'गुरु' कहा जाता है)

अन्धा क्या चाहे? दो आँखें। यदि कोई किसी अन्धे को आँखें दे दे तो वह जीवन-भर उसके प्रति कृतज्ञ बना रहेगा। गुरु भी शिष्यों के विवेक चक्षु खोलने का काम करता है; इसलिए वन्दनीय हैः-

अज्ञान-तिमिरान्धानाम्

ज्ञानाञ्जन शलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन

तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

(अज्ञानरूपी अन्धकार से जो अन्धे हैं, उन की चक्षु को ज्ञानरूपी अंजनशलाका से खोलने वाले गुरु को हम नमस्कार करते हैं)

गुरु में ज्ञान तो भरपूर होना ही चाहिये, साथ ही उसका आचरण भी पवित्र होना चाहिये। वाणी के अनुसार उसका व्यवहार भी होना चाहिये; अन्यथा शास्त्रकारों के अनुसार वह सच्चा गुरु नहीं हो सकता। वह धुआँधार प्रवचन कर के भले ही गुरुत्व का सन्तोष प्राप्त कर लें; परन्तु आचरण को अपनाये बिना वह वास्तविक गुरु पद नहीं पा सकता।

भणंता अकरिन्ता य

बन्धमोक्खपइण्णिणो।

वायाविरियमेत्तेणं

समासासन्ति अप्पयं।।

[बन्ध और मोक्ष की प्ररूपणा करने वाले जो लोग कहते हैं, परन्तु वैसा स्वयं करते नहीं हैं, वे बोलने की शक्ति मात्र से अपने आप को सन्तुष्ट रखते हैं (कि हम धर्मात्मा हैं -गुरु हैं आदि)]

ऐसे गुरुओं को भविष्य में पछताना पड़ेगा -एसी चेतावनी महात्मा कबीर ने इन शब्दों में दी थीः-

कहते सो करते नहीं,

मुँह के बडे लबार।

काला मुँह हो जायगा,

साई के दरबार।।

केवल वेष देखकर किसी को 'गुरु' नहीं मान लेना चाहिये। कहावत हैः-

"पानी पीजे छानकर!

गुरु कीजे जानकर!!"

विवेक से जान-पहचानकर ही हमें 'गुरु' का निर्णय करना चाहिये। स्वामी सत्यभक्त ने लिखा हैः-

बिछा हुआ है, जगत में

कु गुरुजनों का जाल।

उसे तोड़ने के लिए

ले विवेक-करवाल।।

ज्ञान नहीं; संयम नहीं

और न पर-उपकार।

वे कु साधु गुरवेष में

हैं पृथ्वी के भार।।

इसका आशय यह है कि जिसके जीवन में ज्ञान, संयम और परोपकार विद्यमान हो, वही गुरु है।

मूर्तिकार अपनी कला के द्वारा पत्थर को प्रतिमा में परिवर्त्तित कर देता है। पत्थर को छेनी के तीव्र प्रहार सहने पड़ते हैं, तभी वह मूर्त्ति के रूप में पूज्य बनता है। इसी प्रकार गुरु अपने शिष्य को दानव से मानव और मानव से महामानव बनाता है। गुरु की डाँट-फटकार और उसकी छड़ी के प्रहार सहकर ही शिष्य सुयोग्य विद्वान बनता हैः-

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि-

र्निपीडिता यान्ति नरा महत्त्वम्।

अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणाम्

न जातु मौलौ मणयो विशन्ति।।

(गुरुओं की कठोर अक्षरों वाली फटकार से पीड़ित होनेवाले शिष्य ही महान् बनते हैं। जो कसौटी पर घिसी नहीं गईं, वे मणियाँ कभी राजाओं के मुकुट में स्थान नहीं पातीं!)

गुरु का उपदेश डायनेमिक फोर्स है, जिससे गति हो सकती है। गुरु का आदेश वह रसायन है, जिससे शिष्य का आध्यात्मिक जीवन परिपुष्ट होता है; मानव असामान्य बन जाता है, वह प्रभुता के पथ पर चल सकता है - प्रभुता पा सकता है। मानव के हृदय में छिपी हुई दिव्यता गुरुसमागम से बाहर निकल पड़ती है। गुरु की अनुपस्थिति में भी श्रद्धा अपना कार्य करती रहती है।

क्षत्रिय न होने के कारण एकलव्य को द्रोणाचार्य ने शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया; किन्तु एकलव्य इससे निराश नहीं हुआ। उसने द्रोणाचार्य की एक मूर्त्ति मिट्टी से बनाकर जंगल में किसी जगह उस की स्थापना कर दी और श्रद्धापूर्वक अन्तःकरण के आदेश को गुरु का आदेश मानकर धनुर्विद्या का प्रायोगिक अभ्यास करने लगा। फलस्वरूप वह द्रोण के प्रिय शिष्य अर्जुन से भी अधिक निपुण बन गया। द्रोणाचार्य को भी उसकी कुशलता देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी थी!

महाभारत के इस अनुपम दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता है कि गुरु के प्रति श्रद्धा में कैसा चमत्कार होता है!

किन्तु कोरी श्रद्धा से ही जीवन में उन्नति हो जायगी - ऐसा भ्रम किसी को नहीं रखना चाहिये। श्रद्धा के बाद गुरु के उपदेश को अपनाना भी जरूरी है। आचरण से ही जीवन आदर्श बनता है। गुरु सहिष्णुता का उपदेश देते हैं और फिर डाँटते फटकारते हैं। क्यों? सहिष्णुता को अपने जीवन में हमने कितना अपनाया है? इसकी परीक्षा लेने के लिए!

एक शिष्य ने आश्रम में झाड़ू लगाकर कचड़ा एक टोकरी में भरकर रख दिया; परन्तु दूसरे किसी सेवाकार्य में उलझ जाने के कारण टोकड़ी वहीं पड़ी रह गई। कचड़ा फेंकने की बात याद नहीं रही।

कुछ समय बाद प्रज्ञाचक्षु गुरुजी उधर से निकले और टोकड़ी से टाँग टकराई तो गिड़ पड़े। इस पर गुरु ने शिष्य को लाठी से खूब पीटा। शिष्य हटा नहीं और क्षमा माँगते हुए शान्ति से प्रहार सहता रहा। लाठी की चोट का चिन्ह शिष्य की पीठ पर जीवन-भर के लिए अंकित हो गया। लोगों के पूछने पर वह शिष्य बडे गर्व से कहा करता था कि यह तो मेरे गुरुजी का प्रसाद है!

गुरुजी थे - श्री विरजानन्दजी सरस्वती और शिष्य का नाम था - स्वामी दयानन्द सरस्वती। वे जानते थे कि शिष्य को सुधारने के लिए गुरुजी कितने भी क्षुब्ध हो जायँ; परन्तु उन के हृदय में द्वेष नहीं होता। वहाँ केवल प्रेम और वात्सल्य ही भरा रहता हैः-

गुरु कुँभार सिख कुम्भ है,

गढ-गढ काढै खोट।

अन्दर हाथ सहार दै

ऊपर मारे चोट।।

गुरु कुम्हार है और शिष्य घड़ा। घड़े पर कुम्हार चोट लगाकर खोट निकालता है और एक हाथ से घड़ेके अन्दर उसे सहारा भी देता है। मन में वात्सल्य रखकर माँ जिस प्रकार बेटे की पिटाई करती है, उसी प्रकार गुरु भी करता है। कु गुरु की बात अलग है। समझदार व्यक्ति कु गुरु से बचने का प्रयास करते हैं। कु गुरु शिष्यों के अन्धविश्वास का लाभ उठाकर

अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

एक बुद्धिमान् पढा-लिखा निर्धन युवक था। उसे अर्धांगिनी की तलाश थी। एक सेठ इस शर्त पर अपनी कन्या से उसका विवाह करने को तैयार था कि वह धर्मान्तरण कर ले। युवक ने सोचा कि धर्म तो आचरण की चीज है। धर्म बदलने से आचरण नहीं बदलेगा। अच्छे आचरण का कोई धर्म विरोध भी नहीं करेगा; इसलिए धर्मान्तरण की उसने स्वीकृति दे दी।

विवाह की तैयारियाँ होने लगी। वर और कन्या एक दूसरे को चाहते थे। विवाह मण्डप में जाने से पूर्व युवक से कहा गया कि वह स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण कर ले और फिर गुरुजी के पास चलकर गुरुमन्त्र ग्रहण कर ले। ऐसा करने से मान लिया जायगा कि धर्मान्तरण हो चुका है। फिर विवाहविधि सम्पन्न की जायगी।

युवक ने वैसा ही किया। शुद्ध वस्त्र पहनकर वह उस स्थान पर गया, जहाँ सेठजी के गुरुजी विराजमान थे। सेठजी के संकेत पर गुरुजी ने युवक के कान में गुरुमन्त्र सुना दिया। मन्त्र छोटा-सा था। याद भी हो गया।

युवकने पूछाः- "इस मन्त्र के जप से क्या लाभ होगा?"

गुरुः- "स्वर्ग मिलेगा।"

युवकः- "क्या सचमुच मिलेगा?"

गुरुः- "अरे भाई! इस मन्त्र के जप से तो वैकुण्ठ तक मिल जाता है!"

युवकः- "अच्छी बात है। इतना अमीष्ट उत्तम मन्त्र पाने की खुशी में आज मैं आपको दिल्ली की दक्षिणा देता हूँ।"

गुरुः- "दिल्ली क्या तेरे बाप की है?"

युवकः- "तो क्या स्वर्ग और वैकुण्ठ आपके बाप के हैं?"

गुरु निरुत्तर हो गया। सभी सुनने वाले ठहाका मार कर हँस पड़े। सेठने बिना धर्मान्तरण किये ही कन्या विवाह दी। ऐसे लोभी गुरु से भला कौन बचना नहीं चाहेगा?

साधनों का सदुपयोग

मनुष्य को पाँच उत्तम साधन प्राप्त हुए हैंः-बुद्धि, काया, मन, धन और भाषा। इनके सदुपयोग पर ही दुर्लभ मानवभव की सफलता निर्भर है।

शरीर में मस्तिष्क का स्थान सब से ऊपर है; क्योंकि उसका महत्त्व सब से अधिक है। मस्तिष्क की शक्ति को बुद्धि कहते हैं। वही कार्य-अकार्य का निर्णय करती है। उसी के आदेश से शरीर की समस्त गतिविधियों का संचालन होता है। धारणा या स्मृति भी उसी का कार्य है। हम महापुरुषों के विचारों को समझने के लिए शास्त्रों का अध्ययन करें और अपने लिए कर्त्तव्य का निर्णय करें - अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करें तो यही हमारी बुद्धि का सदुपयोग होगा। प्रभु महावीर ने कहा थाः-

"पण्णा समिक्खए धम्मं।।"

(बुद्धि धर्म की समीक्षा करे)

धर्म का अर्थ है - सदाचार या कर्त्तव्य। बुद्धि ही धर्म का निर्णय कर सकती है। वही हमें रूढियों और अन्धविश्वासों से बचा सकती है। वही भूले-भटके लोगों का ठीक-ठीक मार्गदर्शन कर सकती है। वही मानसिक दुर्बलताओं को नष्ट करने का साहस उत्पन्न कर सकती है। वही संकटों में सुरक्षा का उपाय सुझा सकती है।

भवन की सातवी मंजिल के एक कमरे में खिड़की के निकट कुर्सी पर बैठे युवक को एक दुष्ट ने पिस्तौल दिखाते हुए आज्ञा दीः- "यहाँ से नीचे कूद पडो; अन्यथा गोली मार दूँगा!"

संकट की इस घड़ी में यदि युवक व्याकुल हो जाता तो उसे मरना पड़ता; परन्तु उसने बुद्धि का उपयोग किया। फलस्वरूप उसे एक उपाय सूझ गया।

मुस्कुराते हुए वह बोलाः- "अरे भाई! ऊपर से नीचे तो सभी कूद लेते हैं। यह कोई बडी बात नहीं है। मैं तो नीचे से ऊपर उछलकर आ सकता हूँ - मैं हाई जम्प में एक्स्पर्ट हूँ।"

दुष्ट ने कहाः- "अच्छा! तो ऐसा ही कर के दिखा दो।"

यह सुनते ही दुष्ट को खिडकी के निकट खड़ा करके युवक कमरे से बाहर निकल आया। दुष्ट ने सोचा कि वह

उछलने की कला दिखाने के लिए नीचे जा रहा है; किन्तु युवक ने बाहर निकलते ही दरवाजा बन्द कर के उस पर ताला लगा दिया। फिर फोन कर के दुष्ट को पुलिस वालों के हाथ सौंप दिया। इस प्रकार बुद्धि के उपयोग से अपनी जान बचाने में सफलता पाई।

दूसरा साधन है - काया। यह नश्वर है - परिवर्तनशील है - निस्सार है और है रोगों का घर। ऐसी काया से दूसरों की सेवा करनी चाहिये। सेवा या वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप का एक भेद माना गया है। यदि कोई शक्तिशाली दुष्ट किसी निर्बल को पीट रहा हो तो अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग करके हम उसकी रक्षा कर सकते हैं। यही काया का सदुपयोग है।

तीसरा साधन है - मन। इस में मनन करने की शक्ति होती है। एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा हैः-

"निर्णय शीघ्र करो; परन्तु देर तक सोच लेने के बाद!"

सोचने-विचारने का जो कार्य करता है, वह मन है। निर्णय बुद्धि करती है - न्यायाधीश के समान; परन्तु वकीलों की तरह पक्ष-विपक्ष में युक्तियाँ प्रस्तुत करने वाला मन है। मन ही इन्द्रियों को विषयों की ओर आकर्षित करता है; इसलिए साधुसन्त उसे वश में रखने की शिक्षा देते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि मन को ईश्वर की ओर या मोक्ष की ओर घुमाना ही उसका सदुपयोग हैः-

कबिरा माला काठ की

कहि समुझावै तोय।

मन न फिरावै आपणा

कहा फिरावै मोय?

माला फेरत जुग गया,

मिटा न मनका फेर।

कर का मनका डारि दै

मन का मनका फेर।।

प्राचीन शास्त्रकारोंने कहा हैः-

"मन एव मनुष्याणाम्

कारणं बन्धमोक्षयोः।।"

(बन्ध और मोक्ष का कारण मनुष्यों का मन ही है)

यदि किसी जानवर (पशु) को बन्धनसे मुक्त कर दिया जाय तो वह खुशी के मारे उछलने लगता है - पक्षी भी पिंजरे से छूटने पर चहक ने लगता है; परन्तु मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो क्षणिक सुख की लालच में पड़कर सांसारिक बन्धन में फँसा रहना चाहता है। स्थायी सुख वाले मोक्ष की ओर वह आ नहीं होता!

चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकते हुए जब बहुत अधिक पुण्य का संचय हो जाता है, तभी बहुत मुश्किल से मानवभव मिलता है। मोक्ष की साधना इसी भव में संभव है; अन्यथा पुण्य-पाप का फल भोगने के लिए जीव देवगति, नरकगति और तिर्यंच गति में शटल कोक (Shuttle Cock) की तरह इधर-उधर भटकता रहता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी मन ही करता है। इसी प्रकार धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी वही करता है। समय-समय पर अच्छे - बुरे विचारों का तूफान उस में आता रहता है।

यदि मन में अशान्ति हो तो पेट में अजीर्ण हो जाता है, जिससे समस्त शारीरिक रोग पैदा होते हैं। स्वस्थ रहने के लिए मन को सदा शान्त रखना चाहिये। ध्यान रखना चाहिये कि उस में सदा सद्विचार ही भरे रहें। यही उसका सदुपयोग है।

चौथा है - धन। इन्द्रियों के लिए विषय-सुख की सामग्री जुटाना धन का दुरुपयोग है और उससे दूसरों की मदद करना-बीमारों की चिकित्सा में उसे लगाना - धर्मस्थान, प्याऊ, कूआँ, बगीचा, सड़क, सदाव्रत (दानशाला), पाठशाला, छात्रवृत्ति, प्रतियोगिता, पुरस्कार, सद्ग्रन्थ प्रकाशन, सत्संग आदि में उसे खर्च करना उसका सदुपयोग है।

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ एक डाक्टर थे; इसलिए रोगियों का इलाज भी किया करते थे। एक दिन कोई महिला अपने बीमार पतिदेव का इलाज कराने के लिए उन्हें घर बुला ले गई।

कवि को यह समझने में देर नहीं लगी कि गरीबी से उत्पन्न मानसिक चिन्ता ही उसकी बीमारी का मूल कारण है।

कवि यह कहते हुए अपने घर लौट गये कि मैं जल्दी ही एक दवा का पैकेट भेजूँगा। इसके सेवन से इन का स्वास्थ्य ठीक हो जायगा।

कवि के भेजे हुए पैकेट को जब उस महिला ने खोला तो उस में दस स्वर्णमुद्राएँ निकलीं!

उन्हें देखकर ही आधी बीमारी गायब हो गई। पति-पत्नी ने मन-ही-मन कवि की उदारता को प्रणाम किया।

इसी प्रकार एक जीवन घटना हजरत अली की है। वे एक दिन किसी मस्जिद में प्रवचन कर रहे थे कि सहसा किसी अरब ने वहाँ आकर गालियों की बरसात कर दी। श्रोता उत्तेजित होकर उसकी पिटाई करना ही चाहते थे कि अली ने कहाः- "इसे पीटिये मत; किन्तु प्यार से पूछिये कि क्या उसके घर में किसी कुटुम्बी की मृत्यु हुई है, क्या उसके सिर पर कोई कर्जा है, क्या उसे भरपेट भोजन हर रोज मिल जाता है?"

अरब ने बताया कि उसके घर में जवान बेटे की मृत्यु हुई है, कर्जा भी है और भरपेट भोजन भी उसे नहीं मिल पाता।

"यही कारण है कि उसका मन अशान्त रहता है और वह गालियाँ देता है"। ऐसा कहते हुए अली ने तत्काल अपने घर से मँगवाकर उसे इतना धन दे दिया कि उससे कर्जा उतर जाय, कुटुम्बियों के लिए महीनेभर की भोजन की व्यवस्था हो जाय और व्यापार के लिए कुछ पूँजी भी बच जाय।

उसी दिन वह दुष्ट से शिष्ट बन गया। अली की तरह धन का सदुपयोग करने वाले धन्य हैं।

पाँचवाँ साधन है - भाषा। यही पशुपक्षियों से मनुष्य को अलग करती है। अपने भावों को सूक्ष्मता से विस्तार के साथ प्रकट करने की क्षमता मनुष्य की भाषा में है। अपने शब्दों से मनुष्य दूसरों की निन्दा भी कर सकता है और प्रशंसा भी, गालियों की बौछार भी कर सकता है और गुणगान भी - कठोर शब्दों के प्रयोग से अपने दुश्मनों की संख्या भी बढा सकता है और कोमल-मधुर शब्दों के द्वारा अधिक से अधिक दोस्त भी बना सकता है।

विवेकी सज्जन अपनी भाषा का हमेशा सदुपयोग करते हैं। वे अहितकर सत्य नहीं बोलते और हितकर असत्य भी बोलते हैं। वे जानते हैं कि प्रमुख लक्ष्य जनहित है। उनके सामने यह सूक्ति रहती हैः-

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्

न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।।"

(सच बोले, मीठा बोले, किन्तु कटु सत्य न बोले)

परोपकार

परोपकार सब से बड़ा धर्म है और समस्त शास्त्रों का सार है।

करोडों धर्मशास्त्र सौ बैलगाड़ियों में लाद कर एक पंडित प्रवचनार्थ किसी राजमहल में पहुँचा, उसे राजा ने कहाः- "मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं प्रतिदिन कुछ घंटे शास्त्रश्रवण के लिए निकाल सकूँ। केवल एक मिनिट में आप जो कुछ समझा सकें, समझा दीजिये।"

इस पर पंडितजी ने कहाः- "सुनियेः-

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि

यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।

परोपकारः पुण्याय

पापाय पर-पीडनम्।।

(करोड़ों धर्मग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोक से प्रकट कर देता हूँ कि परोपकार से पुण्य और परपीडा से पाप होता है)

पंडितजी के चातुर्य से परिपूर्ण इस सारगर्भित उत्तर से प्रसन्न होकर राजाने यथोचित पुरस्कार के द्वारा उन्हें सम्मानित किया।

इस कथा से परोपकार का महत्त्व समझा जा सकता है।

अशुभ कर्मों के उदय से परिस्थिति प्रतिकूल हो; फिर भी हमें परोपकार से मुँह नहीं मोड़ना चाहिये। शुभ-कर्मोदय के

बाद परिस्थिति निश्चय ही अनुकूल बन जायगी।

पारस्परिक अविश्वास के कारण आज प्रेम नष्ट हो गया है, जो परोपकार का प्रेरक है। यदि हम दूसरों का उपकार नहीं करते तो यह आशा कैसे कर सकते हैं कि दूसरे हम पर उपकार करेंगे।

उपकार तन और धनसे ही नहीं, वचनसे भी होता है। मधुर शब्द हर्ष उत्पन्न करता है और कटु शब्द शोक। कहा हैः-

"एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः

स्वर्ग लोके च कामधुग्भवति!"

(अच्छी तरह जाना हुआ एक शब्द यदि ठीक (समयपर ठीक ढंग से) प्रयुक्त किया जाय तो वह स्वर्ग में और संसार में इच्छाओं की पूर्ति करने वाला होता है)

जैसे लोगों के सहवास में व्यक्ति रहता है, वैसी ही बोली सीखता है। जो तोता संन्यासी के आश्रम में पलता है, वह शिष्ट भाषा बोलता है; किन्तु जो तोता कसाई के बूचड़खाने में पलता है, वह बुरी-बुरी गालियाँ बकता है। एक तोते ने किसी राजा से कहा थाः-

"अहं मुनीनां वचनं शृणोमि

गवाशनानां स शृणोति वाक्यम्।

न चास्य दोषो न च मद्‌गुणो वा

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।।"

(मैं मुनियों के वचन सुनता हूँ और वह कसाईयों के! उसका कोई दोष नहीं है और मेरा कोई गुण नहीं है। हे राजन्! गुण-दोष संसर्ग से उत्पन्न होते हैं)

अच्छे लोगों के संसर्ग में रहने से अच्छे विचार सूझते हैं। विचारों के अनुसार वचन प्रकट होते हैं। बहुत गुस्सा आने पर भी गाँधीजी अधिक से अधिक "पागल" शब्दका ही प्रयोग कर पाते थे।

सुभाषा से उन्नति होती है और कुभाषा से पतन। जिस जीभ से जगत् की आग शान्त हो सकती है, उसी से खून की नदियाँ भी बह सकती हैं; इसलिए हमेशा सोचविचार कर ही बोलना चाहियेः-

"बोली बोल अमोल है

बोल सके तो बोल।

पहले भीतर तौलकर

फिर बाहर को खोल।।"

इस विषय में "सोख्ता" नामक शायर ने कहा थाः-

"आदत है हमें बोलने की तौल-तौल कर।

है एक-एक लफ्ज बराबर वजन के साथ!"

यह आदत उन्हीं सज्जनों में होती है, जो विवेक के छन्ने से विचारों को छान कर फिर बोलते हैं। एक इंग्लिश विचारक ने सुझाव दिया हैः-

"Run before you jump and

think before you speak."

(कूदने से पहले दौड़ो और बोलने से पहले सोचो)

किसी राजा को सपने में दिखाई दिया कि उसकी बत्तीसी गिर गई है। दूसरे दिन स्वप्नफल पाठकों से पूछने पर एक ने कहाः- "आपके बत्तीसों कुटुम्बी एक के-बाद-एक मर जायँगे!"

राजा को इससे बहुत अधिक शोक हुआ; किन्तु तीसरे दिन दूसरे विद्वान् ने जब यह कहा कि- "आपकी उम्र आपके सभी कुटुम्बियों से अधिक है। कोई भी कुटुम्बी आपका महाप्रयाण नहीं देख सकेगा!" तो राजा को बहुत प्रसन्नता हुई।

बात दोनों विद्वानों ने एक ही कही; परन्तु पहले ने अविवेक पूर्वक कहा, दूसरे ने विवेकपूर्वक। इसीलिए उनके बोलने का प्रभाव राजा पर अलग-अलग हुआ।

किसी की गुप्त बात प्रकट करने से यदि उसकी हानि होने की संभावना हो तो सच्ची होने पर भी वह बोलने योग्य नहीं। दूसरों को लाभ पहुँचाने वाली बात बोलनी चाहिये, हानि पहुँचाने वाली नहीं; क्योंकि किसी को हानि पहुँचाना पाप है; इसलिए स्वयं महाश्रमण महावीर ने अपने श्रीमुख से फरमाया हैः-

"सच्चावि सा न वत्तव्वा

जओ पावस्स आगमो।।"

(जिससे पाप होता हो, ऐसी सच्ची वाणी भी नहीं बोलनी चाहिये)

वचनों का प्रयोग मन्त्र की तरह होना चाहिये, जिसमें शब्द कम हों और अर्थ गम्भीर हो। धन के घमंड़में बहुत अधिक बोलने पर लाखों की लागत के महल में रहनेवाले भी कौड़ी के लिए कोर्ट के दरवाजे खटखटाते हैं।

वाणी का संयम वही रख सकता है, जिसका अपने विचारों पर संयम हो।

चावल के एक कण के आकार वाला तान्दुल मत्स्य सातवीं नरक में क्यों जाता है? मगरमच्छ की पलकों पर बैठा हुआ वह देखता है कि मगर के विशाल मुँह के खुलते ही बहुत-सी छोटी-छोटी मछलियाँ बाहर निकलकर इधर-उधर भाग जाती हैं तो वह सोचता है- "कैसा है यह मूर्ख? इसे अपना मुँह भी ठीक से बन्द करना नहीं आता। यदि इस मगर के स्थान पर मैं होता तो अपने मुँह में प्रविष्ट एक भी मछली को बाहर नहीं निकलने देता!"

इस प्रकार रौद्रध्यान से वह अपनी आत्मा को कर्मशृंखलाओं से जकड़ता रहता है और फिर भोगता है - सातवें नरक के दुःख!"

मोक्षका सुख सर्वोत्तम है - शाश्वत है। मनुष्य-भव में ही मोक्ष की साधना की जा सकती है; अतः स्वर्ग के देव भी मनुष्यभव पाने के लिए लालायित रहते हैं। स्वर्ग के देवों का सुख भी अस्थायी होता है; क्योंकि पुण्य के क्षीण होने पर उन्हें मनुष्य लोक में जन्म लेना पड़ता हैः-

"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।"

पूणिया श्रावक को स्वर्ग का सुख तो सहज ही मिल सकता था; परन्तु वह शाश्वत सुख चाहता था; इसलिए वह प्रभु के चरणों में समर्पित हो गयाः-

लभेद् यदयुतं धनं तदधनं धनं यद्यपि

लभेत नियुतं धनं निधनमेव तज्जायते।

तथा धनपरार्धकं तदपि भावहीनात्मकम्

यदक्षरपदद्वयान्तरगतं धनं तद्धनम्।।

[अयुत१ ('अ' से युक्त) धन तो 'अधन' है और नियुत२ ('नि' से युक्त) धन 'निधन' (मृत्यु) है। यदि परार्ध३ (अगला आधा अंश) धन (न) प्राप्त किया जाय तो वह अभावात्मक है; इसलिए अक्षर (ईश्वर) के दोनों पदों (चरणों) के बीच मिलने वाला (वर्णमाला में 'पद' अर्थात् द और प के बीच धन' ही रहता है) मोक्ष रूपी धन ही सच्चा धन है।]

यह मोक्ष धन तो भक्त अपने लिए चाहते हैं और जो क्षणिक धन उनके पास होता है, उसे परोपकार में लगा देते हैं। परिग्रह की ममता नष्ट करने के लिए वे दान करते हैं। बिन्दु-बिन्दु से सिन्धु बन जाता है। सिन्धु अपना जल उन बादलों को देता है, जो प्रसन्नतापूर्वक उसे धरती पर बरसा देते हैं। धरती भी अन्न स्वयं न खाकर किसानों को दे देती है। किसान अपने अनाज के ढेरों से जनता की भूख मिटाते हैं। परोपकार की यह परम्परा पवित्र है।

परोपकारी अपनी शक्ति का उपयोग सर्जन में करता है, संहार में नहीं। भोग तो सभी प्राणी कर रहे हैं। उसमें साहस की आवश्यकता नहीं होती। साहस की आवश्यकता होती है - दान में, त्याग में, परोपकार में।

परोपकार न करने वाला धनवान् भी निर्धन है - विद्वान् भी मूर्ख है - जीवित भी मृतक है! सभी प्राणियों को चाहिये कि तन-मन-धन से सदा यथाशक्ति परोपकार करते रहें।

आत्मज्ञान

आत्मा के विषय में प्रवचन करना सरल है; किन्तु आत्म बोध के अनुरूप व्यवहार कठिन है। ज्ञान की परीक्षा व्यवहार से ही होती है।

किसी की प्रशंसा में बोलना हो तो पाँच मिनिट भी मुश्किल से मिलते हैं और निन्दा के लिए घंटों निकल आते हैं।

निन्दा का रस हमें पागल बना देता है। दूसरों की निन्दा करके लोग यह सोचकर प्रसन्न होते हैं कि हम उनसे अच्छे हैं। भूल जाते हैं कि निन्दा अपने आप में निन्दनीय है। एक शायर ने लिखा हैः-

मैं बताऊँ आपको अच्छों की क्या पहचान है

जो हैं खुद अच्छे वो औरों को नहीं कहते बुरा!

एक अच्छा आदमी देश को आबाद कर सकता है तो बुरा उसे बर्बाद कर डालता है। आत्मा को जानने वाले व्यक्ति किसी की निन्दा में समय नष्ट कैसे कर सकते हैं?

यदि आत्मा एक अमर तत्त्व है तो किसी मित्र या कुटुम्बी की मृत्युपर रोना क्यों आ जाता है?

रूपी देह की अपेक्षा अरूपी आत्मा का महत्त्व अधिक है तो फिर लोग क्यों शारीरिक सुन्दरता पर मुग्ध होते हैं? वे क्यों नहीं सोचते कि सुन्दर शरीर वाला भी दुर्जन हो सकता है और कुरूप शरीरवाला भी सज्जन हो सकता है? सुन्दर शरीर तो एक वेश्या का भी होता है, परन्तु समाज में उसका सम्मान नहीं होता! यह जानते हुए भी लोग सुन्दर शरीर के प्रति क्यों आकर्षित होते हैं? एक कवि के शब्दों मेंः-

मनोहर दीखता यह देह पर सारा घिनौना है।

अशुचि-भंडार चिकने चाम पर थे व्यर्थ भरमाये।।

- सत्यप्रेमी

ऐसा वे क्यों नहीं सोचते?

शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं। हजारों गाये खड़ी हों, फिर भी बछड़ा उनमें से अपनी माँ को पहचान लेता है और उसके पीछे-पीछे चलने लगता है; उसी प्रकार कर्म आत्मा के पीछे चलते हैं। इसीलिए कोई सुखी है, कोई दुखी है। आत्मज्ञ के हृदय में दुखियों को देखकर अनुकम्पा क्यों नहीं होती?

आत्मज्ञ अपनी इन्द्रियोंका गुलाम क्यों होता है? इन्द्रियों को वह खिड़की-दरवाजों की तरह क्यों नहीं देखता? आत्मा में वह दुर्भावों को क्यों आने देता है? आत्मा कोई कचरा-पेटी नहीं है कि उसे कैसे भी दुर्भावों से भर दिया जाय!

उदाहरणार्थ आँख ही उन्नति और अवनतिका केन्द्रबिन्दु है। आँख से प्रभु-प्रतिमा के दर्शन करके हृदय में उत्तम भाव भी लाये जा सकते हैं और भौतिक या शारीरिक सौन्दर्य को देखकर हृदय में कामना का कीचड़ भी भरा जा सकता है। जो विवेकी है, वह हृदय को मलिन करने की भूल कैसे कर सकता है?

दो दृष्टियाँ होती हैं - मिथ्या और सम्यक्। मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वत्र प्रतिकूलता दिखाई देती है और सम्यग्दृष्टि को अनुकूलता।

किसी बगीचे में गुलाब के पौधे को देखकर एक बालक रोने लगा। कारण पूछने पर उसने कहाः- "इतने सुन्दर फूलों के साथ काँटे निकल आये!" दूसरा बालक उसी पौधे को देखकर हँसने लगा। उसका कहना थाः- "इन तीखे काँटों में भी कितने सुन्दर फूल खिल रहे हैं?"

सम्यग्दृष्टि के अभावका ही यह दुष्परिणाम है कि हम याद रखने की बातें भूल जाते हैं और भूल जाने की बातें याद रखते हैं। व्याख्यान में सुनी प्रभु महावीर की वाणी घर जाते ही भूल जाते हैं और यदि किसी ने कोई कठोर वचन कह दिया हो तो उसे जीवन-भर याद रखते हैं और परेशान होते रहते हैं। प्रभु की वाणी का एक वाक्य भी उद्धार कर सकता है- यदि सुनकर उसे याद रखा जाय।

मरने से पहले, रोहिणेय चोर से, उसके पिताने कह दिया था कि महावीर की वाणी कभी मत सुनना।

एक दिन रोहिणेय को उसी मार्ग से निकलना पडा, जिसके एक ओर प्रभु की देशना चल रही थी। उसने कानों में उँगलियाँ डाल लीं, किन्तु भागते समय पाँव में एक काँटा चुभ गया। कानों से हाँथ हटाकर उसने झटपट काँटा निकाला और फिर भाग खड़ा हुआ।

दूसरे दिन वह पकड़ लिया गया। राजाने अपराध कबूल करवाने के लिए एक नाटक किया। रात को अनिन्द्य सुन्दरियों के बीच उसे छोड़ दिया गया। एक सुन्दरी ने उससे कहाः- "पुण्योदय से आप मरकर इस स्वर्ग में आये हैं। हम सब अप्सराएँ आपकी सेवा में मौजूद हैं। यदि आपने पृथ्वी पर कोई बुरा काम किया हो तो बता दीजिये। हम इन्द्रदेव से आपको क्षमा दिला देंगी; अन्यथा आपको नरक में जाना पड़ेगा!"

रोहिणेय जब काँटा निकालने के लिए रुका था, तब कुछ वाक्य उसके कानों में पड़ गये थे। प्रभु ने देवों का लक्षण

बताया था कि जमीन पर उन की परछाई नहीं गिरती - उनके गले का पुष्पहार नहीं मुरझाता - वे जमीन से कुछ ऊपर खड़े रहते हैं और पलकें कभी नहीं झपकाते।

रोहिणेय को देवों का लक्षण याद आ गया। लक्षण के अनुसार एक भी बात उन कथित अप्सराओं में मौजूद नहीं थी।

वह समझ गया कि मेरे मुँह से अपराध कबूल करवाने के लिए ही यह सब नाटक किया जा रहा है। वह सँभल गया। बोंलाः- "मैंने सब पुण्य के ही कार्य किये हैं और यह स्वर्ग पाया है। पाप तो एक भी नहीं किया।"

परिणामतः वह छूट गया। घर पर आकर उसने विचार किया कि दो मिनिट प्रभुवाणी सुनने से यदि मेरी जान बच सकती है तो पूरा प्रवचन सुनने से कितना लाभ होगा? उसका जीवन परिवर्तित हो गया और वह आत्मकल्याण कर नें में सफल हुआ।

आत्मज्ञ क्यों नहीं समझते कि हमारे कान ऐसी पवित्र वाणी सुनने के लिए ही हैं? हम जो कुछ सुनते हैं, वह हमारे अवचेतन मन में भर जाता है और प्रसंग आनेपर प्रकट होता है। उससे हमारा भविष्य बनता-बिगड़ता है। ऐसा जान लेने पर भी क्यों लोग श्रुतज्ञान की ओर ध्यान न देकर निन्दा सुनने में या कामनावर्धक संगीत सुनने में रस लेते हैं?

देश के रक्षक प्रताप को भामाशाह ने अपनी समस्त सम्पत्ति दे दी! क्षणिक सम्पत्ति से जितनी भलाई हो सके, करनी चाहियेः-

परोपकाराय सतां विभूतयः।

(सज्जनों की सम्पत्तियाँ परोपकार के लिए ही होती हैं)

यह जानकर भी लोग क्यों परिग्रहके पीछे पड़े रहते हैं? क्यों उसके लिए दौड-धूप करके अशान्ति मोल लेते हैं? क्यों जीवनपुष्प को मुरझा जाने देते हैं?

अनार्यदेश में धर्मोपदेश के लिए जाने को तैयार साधु क्षेमंकर से गुरुजीने कहाः- "वहाँ का मार्ग ऊबड-खाबड है, भोजन और जल भी समय पर और पर्याप्त नहीं मिल सकेगा, वहाँ के लोग भी बडे क्रूर हैं। वे गालियाँ देंगे, अपमान करेंगे और मार पीट तक करेंगें!"

इस पर क्षेमंकर ने सारे परीषह एक फूल की तरह हँसते हुए सहने और हर हालत में अपने कर्त्तव्य का पालन करने का सुदृढ संकल्प प्रकट किया। फल-स्वरूप गुरुदेव के आदेश से वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में लग गये और सफल रहे।

वैसे कोई किसी को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता। शुभाशुभ कर्मों से ही अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ बनती हैं।

झरोखे में खड़ी बहिन ने मुनिवेष में गुजरते भाई को देखकर कहाः- "इनका शरीर पहले कैसा सुन्दर था और तपस्या के कारण अब सूखकर कैसा काँटा हो गया है!"

यह सुनकर राजा को आशंका हुई कि वह मुनि कहीं इसका पूर्वप्रेमी तो नहीं था? राजा ने हुक्म दिया कि उस साधु की चमड़ी खींचकर लाई जाय। सिपाही गये। कसाई को चमड़ी खींचने का काम सौंपा गया। साधु ने शान्तिपूर्वक अपना तन कसाई को सौंप दिया और मन अरिहंत को। कसाई से कह दियाः- "मेरी हड्डियों से कहीं तुम्हारे हाथों में चमड़ी निकालते समय चोट न लग जाय इसका ध्यान रखना।"

इस प्राणान्तक उपसर्ग को द्वेषरहित माध्यस्थ्य भाव से सहने के फलस्वरूप मुनि के कर्म कट गये। उन्हें केवलज्ञान के बाद मोक्षका शाश्वत सुख प्राप्त हुआ।

मुनि की रक्तरंजित मुँहपत्ती को खाने की वस्तु समझकर एक चील ले उड़ी; किन्तु उसमें खाने योग्य कुछ भी नहीं था; इसलिए उसे चोंच से छोड़ दिया। मुँहपत्ती झरोखे में बहिन के पास गिरी। वह उसे देखकर मूर्छित हो गई। जब राजा को वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो उसे अपने विवेकहीन आदेश के लिए घोर पश्चात्ताप हुआ। अन्त में राजा और रानी दोनों साधु-साध्वी बनकर आत्मकल्याण की साधना में लग गये।

इसे कहते हैं - आत्मज्ञान! कहाँ है ऐसा आत्मज्ञान, जो केवल चर्चा में नहीं, व्यवहार में भी दिखाई दे?

सच्चिदानन्द

परमात्मा को "सच्चिदानन्द" कहा जाता है। इस शब्दमें तीन पद हैं - सत्, चित् और आनन्द।

सत् का अर्थ है - सत्ता या अस्तित्व, चित् का अर्थ चैतन्य है और आनन्द का अर्थ है - शाश्वत अखण्ड अनन्त सुख। सत् और चित् तो प्रत्येक जीव में हैं; क्योंकि उसका अस्तित्व है और वह जड़ से भिन्न है; परन्तु आनन्द के बदले उसमें

क्षणिक सुख है। यही आत्मा से परमात्मा का अन्तर है।

कहा जाता हैः- **"अप्पा सो परमप्पा।।"** (आत्मा ही परमात्मा है)

यदि विषयों से प्राप्त होनेवाले क्षणिक सुख के पीछे न पड़कर आत्मा शाश्वत सुख की खोज में लग जाय और उसे प्राप्त कर ले तो वह परमात्मा बन जाय। सन्त, साधु, ऋषि, मुनि, महात्मा, ज्ञानी, ध्यानी, दार्शनिक और भक्त जीवन-भर इसी साधना में अर्थात् अनन्त सुख के अन्वेषण में लगे रहते हैं।

समुद्रमन्थन से प्राप्त अमृतकलश को कहाँ रक्खा जाय? यह प्रश्न जब खड़ा हुआ तो जितने भी सुझाव आये, वे सब निरस्त हो गये; क्योंकि सब जगह उसके नष्ट होने या चुरा लिये जाने की सम्भावना थी। अन्त में मनुष्य के हृदय में रखने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हो गया। तब से आनन्द का वह अमृतकलश वहीं सुरक्षित रूप से पड़ा है। मनुष्य उसकी खोज मे सब जगह भटकता रहता है; परन्तु अपने हृदय की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता, जहाँ वास्तव में वह मौजूद है।

फूल ने पुकाराः- "ऐ फल! तू कहाँ है?"

फल बोलाः- "तेरे हृदय में छिपा हूँ!"

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस संवाद के द्वारा वही बात कही है। महात्मा कबीर कहते हैंः-

"मोकूँ कहाँ ढूँढे बन्दे!

मैं तो तेरे पास में।।"

अन्यत्र वे कहते हैंः-

मन मथुरा दिल द्वारका

काया काशी जान।

दसों द्वारका देहरा

ता में ज्योति पिछान।।

वह आत्मज्योति आठ कर्मों के आवरण में छिपी हुई है। इस आवरण को हटाने के लिए साधना करनी पडती है।

कर्ममल से श्यामल आत्मवस्त्र को भक्तिजल से धोना है।

गाय जंगल में दूब चरती है; परन्तु उसका मन बछडे में होता है। नट रस्सी पर बिना आधार के चलता है - दौडता है - नाचता है, परन्तु उसका मन सन्तुलन पर रहता है। पनिहारिनें आपस में कितनी भी बातें करती रहें, पर उनका मन घड़ें पर टिका रहता है। ठीक इसी प्रकार दुनिया के सारे काम करते रहने पर भी भक्त का मन भगवान् पर टिका रहता है।

जैसे झाडू लगाने से मकान स्वच्छ रहता है, वैसे ही जिनवाणी सुनने और याद रखने से विचार शुद्ध रहते हैं।

शुद्धि और बुद्धि जिसमें नहीं होती, वही मनमाना व्यवहार करके दुखी होता है। भक्ति में कैसी शक्ति होती है? एक दृष्टान्त द्वारा बताना चाहूँगाः-

किसी राजा ने प्रसन्न होकर अपने चाकर से मनमानी वस्तु माँगने के लिए कहा। वह बोलाः- "जब मैं द्वार के बाहर अपनी ड्यूटीपर रहूँ और आप मेरे पास से निकलें तब मेरे कानमें कहते रहें कि मैं भगवान् को न भूलूँ! बस, यही मेरी माँग है।"

राजा आते-जाते उस चाकर की इच्छा के अनुसार उसके कान में कहने लगा - "तुम भगवान् को मत भूल जाना।"

लोगों ने जब यह दृश्य देखा तो वे समझने लगे कि यह चाकर राजा को बहुत प्रिय है। हो सकता है, राजा ने इसे अपना गुप्तचर बना लिया हो। फल यह हुआ कि उस चाकर की प्रतिष्ठा बहुत बढ गई। यह था - भक्ति का चमत्कार!

सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की उपासना से जब मोक्ष मिल सकता है, तब सांसारिक प्रतिष्ठा क्यों नहीं मिलेगी? वह तो बहुत साधारण वस्तु है।

कलापी ने कहा थाः- "श्रद्धा कभी निष्फल नहीं होती। उससे अचिन्तित कार्य भी पूर्ण होते हैं। श्रद्धा जितनी अधिक गहरी होती है, आत्मकल्याण भी उतना ही जल्दी होता है।"

पहले पुस्तकें कम थीं, श्रद्धा अधिक थी। आज पुस्तकें बढ गई हैं, श्रद्धा कम हो गई है। यही सारी गड़बड़ी का कारण है।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन।। - गीता

(प्रणाम करके 'उस' को जान लो)

पहले प्रणाम करके लोग ज्ञान प्राप्त करते थे; किन्तु आज ज्ञान प्राप्त करके भी प्रणाम करने में सकुचाते हैं - लजाते हैं।

श्रद्धा से प्राप्त ज्ञान संयम की ओर ले जाता है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज बर्नार्ड शा ने लिखा है:- "अपने कुटुम्ब के बालकों के मुण्ड काटकर गमले में लगायें तो अच्छा नहीं लगेगा। उसी प्रकार झाड़ या पौधे से फूल तोडकर उन्हें फूलदानी में सजाना भी उचित नहीं है। सौन्दर्य दूर से देखने के लिए है, छूकर या मसलकर तहस-नहस करने के लिए नहीं। पुष्पों के सौन्दर्य और सौरभ को नष्ट करने का हमें क्या अधिकार है?"

अहिंसा की यह दृष्टि विचारकता से उत्पन्न हुई है। विचारकता से ही संयम आया था - सुदर्शन सेठ में।

उनके यौवन पर मुग्ध होकर कपिलाने उसका लाभ उठाना चाहा। उसके जाल में फँसकर भी वे जल में कमल की तरह बच गये। बोले - "कपिला! मैं नपुंसक हूँ। मुझ में वह पौरुष नहीं है, जिसकी कामना तू कर रही है।"

सुदर्शन सेठ की यह बात संयम की रक्षा के लिए थी; इसलिए असत्य होकर भी सत्य थी। स्वदारा सन्तोष व्रत के धारक सुदर्शन सेठ ने किसी के घर अकेले न जाने की प्रतिज्ञा ले रक्खी थी। रूप और यौवन भी धन हैं। लुटेरों से इन्हें भी बचाने के लिए खूब सावधान रहना पडता है।

जब कपिला दासी ने महल के झरोखे से सुदर्शन सेठ को मनोरमा सेठानी और बच्चों के साथ देखा तो उसके मन में आग लग गई। वह समझ गई कि झूठ बोलकर सेठने मुझे उस दिन धोखा दिया था। भेड के शरीर पर आग लग जाय तो वह इधर-उधर दौडकर सब जगह आग लगाने की कोशिश करती है। ऐसा ही कपिला ने किया। उसने महारानी अभया की वासनाग्नि भडका दी। फलस्वरूप पौषधशाला में जब सेठ ध्यान में लीन थे, तभी उनका अपहरण करके उन्हें एकान्त कक्ष में रानी के सामने उपस्थित कर दिया गया।

मन जल जैसा तरल हो तो छोटे से कंकड़ से भी उसमें तरंगें पैदा हो जाती हैं। इससे विपरीत यदि बर्फ जैसा सुदृढ हो तो पत्थर के प्रहार का भी उस पर कोई असर नहीं होता। सेठ का मन हिमशैल की तरह शीतल शान्त और सुस्थिर था। रानी के हाव-भाव का, कटाक्षों का, कोमल शब्दों का एवं अंगप्रदर्शन का उनके मन पर कोई असर नहीं हुआ। इस प्रकार सारे प्रलोभन जब व्यर्थ रहे तब रानी ने अन्त में भय का प्रयोग किया। उसने धमकी दी कि यदि मेरी इच्छा तृप्त नहीं की तो मैं चिल्लाकर तुम्हें प्राणदंड दिलवा दूँगी; किन्तु इस पर भी वे अविचलित रहे। शान्ति से प्रभु शान्तिनाथ का स्मरण करते रहे।

रानी ने आखिर अपने हाथों से अपनी दशा बिगाड ली और सेठ पर बलात्कार का झूठा आरोप लगा दिया, राजा ने क्रुद्ध होकर शूली की सजा दे दी; किन्तु आखिर वही शूली उनके लिए सिंहासन बन गई अर्थात् उनकी प्रतिष्ठा का कारण बनी। आज तक हम उनका यशोगान करते हैं - श्रद्धा से उनका नाम स्मरण करते हैं।

इल्ली भ्रमरी का ध्यान करते-करते भ्रमरी बन जाती है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा का ध्यान करते-करते स्वयं भी परमात्मा बन जाती है। संयम से जीवन पवित्र और वन्दनीय बन जाता है।

हम जानते हैं कि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय चारित्र ग्रहण करने में बाधक बनता है; फिर भी यदि संकल्प सुदृढ़ हो तो संयम ग्रहण करना सरल हो जाता है। संकल्प में से शक्ति अपने आप प्रस्फुटित होती है।

हम इतने कमजोर हो गये हों कि हमारे लिए शय्या से उठकर चलना-फिरना तक असंभव-सा हो गया हो; फिर भी यदि भवन में आग लग गई हो तो यह सुनते ही तत्काल उठ कर बाहर भागने की शक्ति शरीर में न जाने कहाँ से पैदा हो जाती है। यही बात संयम के लिए समझें।

सारांश यह है कि श्रद्धा, भक्ति, विनय और सुदृढ़ संकल्प के साथ संयम को अपनाने पर कोई भी मनुष्य स्वयं सच्चिदानन्द बन सकता है।

सत्संग

हवा के लिए कोई कमरा निर्धारित नहीं होता कि जब साँस लेना हो, उसमें चले जाएँ और शेष समय अन्यत्र रहें। उसी प्रकार धर्म के लिए कोई स्थान या अवस्था निर्धारित नहीं है। जैसे हवा सर्वत्र होती है, वैसे ही धर्म भी जीवन में सर्वत्र होना चाहिये।

अइमुत्ता मुनि, हेमचन्द्राचार्य आदि अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जिन्होंने बचपनमें ही संयम स्वीकार कर लिया था।

पहले से जो प्रकाश के मार्ग पर चल पडते हैं, वे धन्य हैं। धर्माचरण उनके लिए सुगम होता है; परन्तु जो लोग सांसारिक मोह-माया के अँधेरे में भटकने के बाद संयमसूर्य का प्रकाश पाते हैं, वे और अधिक धन्य हैं; क्योंकि धर्माचरण उनके लिए दुर्गम होता है - अपने मन को मोक्ष की ओर मोडने के लिए उन्हें अधिक श्रम करना पड़ता है - अधिक तप करना पडता है - अधिक सावधान रहना पड़ता है।

संयम पाने के लिए संयमी का सान्निध्य जरूरी है। हिन्दी में कहावत हैः- "खरबूजेको देखकर खरबू जा रंग बदलता है।" यह संग का रंग है, जो सब पर चढता है। पारस के सम्पर्क से लोहा सोने में बदल जाता है। पानी की बूँद कमलपत्र पर हीरे की तरह चमकती है, सीपी में पडे तो मोती बन जाती है और तप्त तवे पर पडे तो भाप बनकर उड जाती है। नर्मदा नदी में बहने वाले पत्थर शंकर बन जाते हैं और कंकड़ शालिग्राम! ग्रीष्मकाल में पथिक सघन वृक्ष की छाया में कैसा विश्राम पाता है? निर्झर के निकट प्यासा व्यक्ति कैसी तृप्ति पाता है? जिज्ञासु भी ज्ञानी के पास वैसी ही तृप्ति पाता है! मुमुक्षु भी महापुरुषों के सान्निध्य में वैसा ही विश्राम पाता है! अर्जुनमाली दृढप्रहारी, चण्डकौशिक जैसे दुष्टों को भी यदि आत्मशान्ति प्राप्त होती है तो उसके मूल में सत्संगति के अतिरिक्त और क्या है?

सन्तों की संगति कितनी दुर्लभ है? यह सन्त सुन्दरदासजी से जानिये। वे कहते हैंः-

तात मिले पुनि मात मिले सुत

भ्रात मिले जुवती सुखदाई

राज मिले गज बाज मिले सुख-

साज मिले मनवांछित पाई।

लोक मिले सुरलोक मिले विधि-

लोक मिले वैकुण्ठ हि जाई

"सुन्दर" और मिले सब ही सुख

सन्त-समागम दुर्लभ भाई।।

ईसाई रविवार को चर्च में जाते हैं। उस दिन छुट्टी रहती है। छुट्टी को वे होली डे (पवित्र दिवस) कहते हैं। पापात्माएँ उस दिन सत्संग से पवित्र बनने का प्रयास करती हैं।

जैसे पंप से पानी ऊपर चढ़ता है, वैसे ही सत्संग से मन ऊपर चढ़ता है ऊर्ध्वगामी बनता है; अन्यथा पानी की तरह मन का स्वभाव नीचे की ओर जाना है।

मन मोम जैसा है। शास्त्र श्रवण के संस्कारों से उसे उत्तम ढाँचे में ढाला जा सकता है, स्थूल भोग से सूक्ष्म त्याग की ओर ले जाया जा सकता है।

बहुरूपिये तरगाला ने साधुवेष में रहकर मांगलिक सुनाया तो उससे ऊदा मेहता का उद्धार हो गया। स्वयं तरगाला पर भी सुप्रभाव हुआ साधुवेष का और उसने सम्पत्ति का लोभ छोड दिया। साधु की संगति से नयसार का जीवन परिवर्त्तित हुआ और उत्तरोत्तर उत्कर्ष पर पहुँचकर वह तीर्थंकर बना। विजयहीरसूरीश्वर के समागम से अकबर अहिंसाप्रेमी बना और आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने महाराजा कुमारपाल को परम आर्हत बना दिया।

एक कहावत हैः- "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन!" सामिषभोजी की अपेक्षा निरामिष-भोजी के विचार अच्छे होते हैं। पेट में यदि अपवित्र आहार पहुँचेगा तो आचार-विचार भी अपवित्र हो जायँगे।

गोचरी के बाद एक साधु को तत्काल नींद आ गई तो गुरु को आशंका हुई। जिस सेठ के घर से वह साधु आहार लाया था, उससे पूछने पर पता चला कि वह निर्माल्य आहार था। मन्दिर से लाया हुआ सस्ता माल उसने साधु को दान कर दिया था। उतरा हुआ भोजन ग्रहण करने से मनोवृत्ति भी उतर जाती है। रोटी के टुकडे के लिए कुत्ता अपनी पूँछ हिलाता है; परन्तु हाथी गौरव के साथ मन-भर लड्डू खा जाता है। मन्दिर में अर्पित द्रव्य का उपयोग करने से संघ की उन्नति नहीं, अवनति होती है। पुरुषार्थ से अर्जित द्रव्य के उपयोग से ही संघ की उन्नति हो सकती है।

पुरुषार्थ या श्रम के अभाव से आज घरों में क्या हालत हो रही है? पहले पत्नी प्रेमपूर्वक अपने हाथों से रसोई बनाकर पतिदेव को परोसती थी; किन्तु आज रसोईया थाली में रोटी फेंक कर खिलाता है। रसोईये में प्रेम नहीं होता। उसकी दृष्टि वेतन पर होती है; भोजन की शुद्धि पर वह उतना ध्यान नहीं दे सकता जितना गृहिणी दे सकती है।

अशुद्ध आहार से स्वास्थ्य भी गडबडा जाता हैः-

"केशतः स्वर भङ्गः स्यात्

मेधां हन्ति पिपीलिका।।"

(भोजन में केश चला जाय तो स्वरभंग हो जाता है - गला बेसुरा हो जाता है और चींटी चली जाय तो वह बुद्धि का नाश कर देती है)

मक्खी से उल्टी हो जाती है, करोलिये से कोढ हो जाता है तथा अन्य अनेक जन्तुओं से खाज-खुजली, फोडे-फुंसी हो जाते हैं। रोगों का प्रभाव मन पर भी होता है। इस प्रकार अशुद्ध आहार से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का नाश हो जाता है।

पूणिया श्रावक का मन एक दिन सामायिक में नहीं रमा तो उसने पत्नी से पूछा कि आज आहार में कोई चीज बाहर से आई थी क्या? बहुत सोचने के बाद पत्नी को याद आया। बोलीः- "हाँ, चूल्हें में आग जलाने के लिए एक जलता हुआ कड़ा पड़ौसन से लाई थी!"

बिना श्रम के प्राप्त कंडे जैसी साधारण वस्तु का सूक्ष्म प्रभाव मन पर कैसे होता है? इसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

बत्तीस दाँतों और दो होठों की सुरक्षा में रहने वाली जीभ से एक कवि ने क्या अच्छा कहा हैः-

"रे जिह्वे! कुरु मर्यादाम्

भोजने वचने तथा।

वचने प्राण - सन्देहो

भोजने चाप्यजीर्णता।।"

(हे जीभ! तू भोजन और वचन में मर्यादा का ध्यान रख; अन्यथा भोजन से अजीर्ण हो जायगा और वचन से प्राण संकट में पड जाएँगे)

जीभ के दो काम हैं - खाना और बोलना। दोनों में संयम जरूरी है। उसे संयम सिखाने के लिए उपवास का विधान है, जिसे 'अनशन' नामक बाह्य तप कहते हैं। उपवास का एक अर्थ है- (उप=समीप, वास=निवास) आत्मा के समीप रहना। भौतिक पदार्थों के समीप बहुत रह लिये। कभी-कभी आत्मा के सान्निध्य में भी रह कर देखिये कि उसमें कैसा आनन्द आता है। आत्मा की संगति में रहने की प्रेरणा सत्संग से मिलती है।

डिब्बे में कोई सोता रहे या जागता रहे, ट्रेन चलती ही रहती है, उसी प्रकार दुनिया भी चलती ही रहती सम् उपसर्ग पूर्वक सृ (सरकना) धातु से संसार बना है। वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता - किसी की परवाह नहीं करता - निरन्तर गतिशील रहता है। कहावत हैः-

Time and tide waits for none.

(समय और ज्वार-भाटा किसी की प्रतीक्षा नहीं करता)

हमें भी संसार की तरह निरन्तर गतिशील रहना है। हमारी गति मोक्ष की ओर होनी चाहिये।

प्रसाधन सामग्री के विज्ञापन अखबारों में खूब आते हैं; परन्तु असली सोना बिना विज्ञापन के बिक जाता है। मँहँगी वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती वस्तुओं का ही विज्ञापन अधिक होता है; इसलिए आप प्रचार के चक्कर में मत आईये। आत्मा का विज्ञापन अखबारों में नहीं मिलने वाला है। उसके लिए शीतल साधु-संगति की शरण में जाना होगाः-

चन्दनं शीतलं लोके

चन्दनादपि चन्द्रमाः।

ताभ्यां चन्दनचन्द्राभ्याम्

शीतला साधुसंगतिः।।

(संसार में चन्दन शीतल होता है। चन्दन से अधिक चन्द्र शीतल होता है; किन्तु चन्दन और चन्द्र दोनों से अधिक शीतल होती है-साधुसंगति)

जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, क्रोध, अभिमान, माया (छल), लोभ, मोह, निन्दा, पैशुन्य, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, अभाव, संयोग, वियोग, आदि से सन्त्रस्त मनुष्यों को सत्संग से ही सन्तोष और शान्ति का अनुभव हो सकता है - यह ध्रुव सत्य है।

निर्भय बनें

जो पेढी केवल नौकरों के द्वारा चलाई जाती है, वह बर्बाद हो जाती है; किन्तु किसी एक मालिक की सत्ता में चलाई जाय तो आबाद हो जाती है। इन्द्रियों पर भी यदि विवेकशील मन की सत्ता रहे तो सारा कार्य व्यवस्थित चल सकता है।

रंगीन आइस्क्रीम आँख, नाक और जीभ को आकर्षित भले ही करती रहे; परन्तु गले के टांसिल्स से डरने वाला मन उसे स्वीकार करने से इन्कार कर देता है।

इन्द्रियों को अपनी और आकर्षित करने वाली हजारों वस्तुएँ दुनिया में भरी पडी हैं। उन्हें पाने के लिए मनुष्य कठोर परिश्रम करता है। जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसका सुख समाप्त हो जाता है। फिर कोई नई वस्तु पाने का प्रयास किया जाता है। यह चक्र चलता ही रहता है और जीव इस चक्र में फँसा रहता है।

भक्ति और ज्ञान से विशुद्ध मन उस चक्र से जीव को बाहर निकाल सकता है। वह इन्द्रियों विषयों की ओर जाने से रोक सकता है।

सुकवि पंडित श्री सूरजचन्द्रजी सत्य प्रेमी ने अपनी एक भाव-पूर्ण कविता में लिखा हैः-

इन्द्रियों के न घोडे विषय में अड़ें।

जो अड़े भी तो संयमके कोड़े पड़े।।

तनके रथको सुपथपर चलाते चलें।

सिद्ध अर्हन्त में मन रमाते चलें।।

मन को सिद्ध और अरिहन्त देव में रमाने की जरूरत है।

जवान स्त्री के शबको देखकर एक कामुक युवकने कामना की पूर्ति का विचार किया। एक चोरने उसके शरीरपर पहने हुए सोने-चाँदी के गहनों को लूटने का विचार किया। एक सियार ने उसका माँस खाने का विचार किया; परन्तु एक ज्ञानी भक्त ने शरीर की नश्वरताका विचार किया और उसका वैराग्य सुदृढ हो गया।

लोग स्वाद के लिए खाते हैं, किन्तु ज्ञानी क्षुधावेदनीय रोग के उपशमन के लिए औषध के समान अनासक्त भाव से आहार ग्रहण करते हैं। मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शरीर को टिकाये रखना जरूरी है; किन्तु भय शरीर को सुखा देता है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा हैः-

"भय से मुक्त होना हो तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो"

लोकमान्य तिलक का कथन हैः-

"भय और जय परस्पर विरोधी है

यदि जय पाना चाहते हो तो निर्भय बनो"

रोते हुए बच्चे को चुप रखने लिए कल्पित "हौवे" का डर दिखाते है; जो अनुचित है। इससे बच्चे डरपोक और कायर बन जाते है।

शक्रस्तव में "अभयदयाणं" पदसे जिनदेवकी स्तुति की गई है. वे जीवों को अभयदान करते हैं, स्वयं निर्भय रहते हैं और दूसरों को निर्भय बनाते हैं।

भय हमारे मन में होता है, जगत् में नहीं। जब तक अज्ञान है, तब तक भय रहता है। अँधेरे में सड़क पर पड़ी रस्सी को कोई साँप समझ ले तो वह काँप उठेगा; किन्तु रस्सी का ज्ञान होने पर भय भी मिट जायगा।

जिसके पास बहुत सम्पत्ति है - उच्च सत्ता है - अभिमान है, उसे चौकीदार रखने पडते हैं। अकिंचन सदा निर्भय रहता है।

जिस में वीरता है, वह निर्भय ही रहेगा। जिस वन में चण्डकौशिक रहता था, उसमें न जाने का अनुरोध महावीर स्वामीसे किया जाता है; परन्तु निर्भयता पूर्वक वे वहाँ जाते हैं और प्रचण्ड चण्डकौशिक को शान्त बना देते हैं। अंगारा रुई को भले ही जला दे, परन्तु पानी में डाल दिया जाय तो वह स्वयं ही बुझ जाता है। इसलिए नीतिकार राजस्थानी कवि कहता हैः-

"आगला जो आग होवे

थूं होजे पाणी!"

(यदि सामने वाला व्यक्ति क्रुद्ध हो - आग हो तो तू शीतल जलकी तरह शान्त बन जाना)

जो दूसरों को मारता है, उसे मार खानी पडती है; किन्तु जो दूसरों को तारता है, उसकी लोग सेवा करते हैं। पद सेवा के लिए होता, अभिमानके लिए नहीं। पद पर रहकर जो उपकार नही करता, उसके विषय में एक संस्कृत कवि कहता हैः-

अधिकारपदं प्राप्य

नोपकारं करोति यः।

अकारस्य ततो लोपः

'क' कारो द्वित्वमाप्नुयात्।।

(अधिकार पदपर रहकर जो उपकार नहीं करता, उसके 'अ' का लोप हो जाता है और 'क' का द्वित्व अर्थात् "अधिकार" का "धिक्कार" हो जाता है)

जो अधिकारी अपने उच्च पद के अनुकूल निर्धारित कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह धिक्कार का पात्र बनता है। अपने से उच्च अधिकारियों के सामने वह डरता रहता है। इससे विपरीत कर्त्तव्य का पालक निर्भय रहता है।

निर्भयताके गुण ने एक साधारण माली को राष्ट्रपति पद तक पहुँचा दिया था। उस माली का नाम था-अब्राहम लिंकन। एक अनार का रस निकालकर जब उसने अपने मालिक को पीने के लिए दिया तो एक घूंट लेते ही मालिक ने उसे डाँटाः-

"अरे! यह रस तो कडवा लग रहा है? क्या तुम जानते नहीं?

लिंकन ने कहाः- "बिल्कुल नही; क्योंकि मैं पेडों को सींचने का काम करता हूँ, फल चखने का नही!"

इस उत्तर से मालिक उसकी प्रामाणिकता पर प्रसन्न हुआ और उसे उच्च पद पर नियुक्त किया। इसी प्रकार क्रमशः आगे बढता हुआ एक दिन वह राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गया।

यदि अपराध हो जाय तो निर्भय व्यक्ति प्रायश्चित से पीछे नही रहता। दृढप्रहारी ने चार व्यक्तियों की हत्या कर दी थी; किन्तु प्रायश्चित करने के लिए साधु बनकर वह उसी गाँव में पहुँचा। लोगों ने उस पर पत्थर बरसाये, गालियाँ बरसाईं, थूका, हर तरह से उसे अपमानित किया; परन्तु वह न डरा न भागा! "मेरे कर्मोंकी निर्जरा हो रही है" ऐसा सोचकर उसने सारे उपसर्ग सह लिये। फलस्वरुप वहीं खडे खडे उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया!

इसके विपरीत लक्ष्मणा साध्वी ने माया पूर्वक प्रायश्चित्त किया। इससे पाप का जहर नहीं उतरा और उसे अनेक भवों में भटकना पड़ रहा है। आगामी चौवीसी में वे मोक्ष पधारेंगी-ऐसा शास्त्रकार कहते हैं।

प्रायश्चित्त वह पवित्र झरना है, जिसमें स्नान करने से आत्मा के सारे दाग धुल जाते हैं।

"दास कबीर जतन से ओढी,

ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'।

आत्मा ही वह चादर है, जिसे महात्मा कबीर सावधानी से ओढते हैं और उस पर कर्मों का दाग नहीं लगने देते।

आठ कर्मों में से एक है-मोहनीय। इसके दो भेद हैं दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। पहले के तीन प्रकार हैं-मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय। दूसरे के दो भेद हैं-कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय।

क्रोध, मान, माया, लोभ में से प्रत्येक के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन-ये चार-चार भेद होने से कषाय-चारित्रमोहनीय के कुल सोलह भेद हो जाते हैं।

नोकषाय के नौ प्रकार हैं-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

इस प्रकार चारित्र मोहनीयकर्म के कुल पच्चीस भेदों में से एक "भय" है।

जब तक इस कर्म का उदय रहेगा, तब तक जीव डरता रहेगा। स्वयं डरने और दूसरों को डराने से इस भय नामक नोकषाय चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

जिसमें साहस होता है, वीरता होती है वह न तो डरता है और न किसी को कभी डराने का ही प्रयास करता है।

हम वीर के ही नहीं, महावीर के उपासक हैं, जो प्राणीमात्र को अभय देने वाले हैं। किसी भी संकट का हमें साहस के साथ मुकाबला करने को सदा तैयार रहना चाहिये।

धीरज, शान्ति और साहस को स्थायी रूप से मन में बसा कर हम भय को भगा सकते हैं।

आईये, ऐसा ही करें-अपनी मानसिक कमजोरी को मिटाकर हम भी प्रभु महावीर के समान निर्भय बनें।

शिक्षार्थी

बचपन में जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे जीवन-भर टिकते हैं। सुलसा पर ऐसे धार्मिक संस्कार पड़ गये थे कि अंबड को उसके सामने झुकना पडा।

प्रभु महावीर ने अंबड के साथ सती सुलसा को धर्मलाभ का संदेश कहलाया था। उसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्त में स्वयं महावीर का नकली रुप धारण करके उससे सुलसा को अपनी ओर आकर्षित करने का भरपूर प्रयास किया; किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। फिर असली रुप में सुलसा के सामने जाकर प्रभु का सन्देश सुनाया। अंबड श्रावक इस दृढता से प्रभावित हुआ और उसका भी उद्धार हो गया।

सम्यग्ज्ञान भीतर से आता है, बाहर से नहीं। हीरे को घिसा जाय तो उसकी चमक बढती जाती है; किन्तु यह चमक बाहर से नहीं; भीतर से आती है। ईंट के भीतर चमक नहीं होती; इसलिए घिसने पर उससे मिट्टी झरती है-वह टूटकर बिखर जाती है, परंतु चमक नहीं हो सकती। भरत महाराज चक्रवर्ती सम्राट् थे, वैभवशाली थे; फिर भी दर्पण-भवन में अपने शरीर के स्वरूप पर विचार करते-करते उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भीतरी संस्कार समय पर संयोग पाकर बाहर आ गये।

चलती ट्रेन में बैठे एक व्यक्ति ने जब ट्रेन के रुकने पर यह सुना कि टर्मिनल (अन्तिम स्टेशन) आ गया है, गाडी खाली करो तो वह विरक्त हो गया। सोचा कि आयुरुपी ट्रेन का भी इसी प्रकार टर्मिनल आने वाला है।

विवाह के समय समर्थ स्वामी रामदास ने मंडप में "सावधान" शब्द सुना और वे तत्काल सावधान होकर बिना विवाहित हुए ही वहाँ से भाग गये और सन्यासी बन कर जनकल्याण का उपदेश देने लगे।

सुनी हुई बात पर चिन्तन करने से वैराग्य किस प्रकार उत्पन्न होता है-इस बात के ये दो उदाहरण हैं। वैराग्य आत्मा को परमात्मा में रूपांतरित कर सकता है।

जो इस लोक में सुख चाहते हैं, वे क्रूर हैं। जो परलोक में सुख चाहते हैं, वे मजदूर हैं और जो लोक-परलोक की पर्वाह न करके परमात्मा बनना चाहते हैं; वे शूर हैं। जैन धर्मशास्त्र इसी बातकी शिक्षा देते हैं कि व्यक्ति को शूर बनना चाहिये।

यदि अपकारी पर क्रोध करना शूरता है तो क्रोध ही सबसे बडा अपकारी हैः-

"अपकारिषु कोपश्चेत्

कोपे कोपः कथं न ते?"

(यदि तू अपकारियों पर क्रोध करता है तो क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करता?) शूरता संस्कारों का परिणाम है। संस्कार आते हैं - सुयोग्य शिक्षण से।

आज के शिक्षण से चरित्र गायब हो गया है, विनय का नाश हो गया है और विवेक का विलय हो गया है। यही कारण है कि आज विवेकानन्द, वीरचन्द गाँधी आदि के समान प्रतिभाशाली व्यक्ति दिखाई नहीं देते, जिन्होंने विदेशों में जाकर भारतीय संस्कृति की धाक जमाई थी।

लॉर्ड कर्जन ने बंगाल युनिवर्सिटी के उपकुलपति सर आशुतोष मुखर्जी से, जब विशिष्ट शिक्षा पाने के लिए केम्ब्रिज जाने का आदेश दिया तो, उत्तर पाया कि इस आदेश का पालन मेरी माँ की इच्छा पर निर्भर है।

माँ के इन्कार करने पर दूसरे दिन अपना त्यागपत्र सामने रखकर लार्ड कर्जन से कहाः- "मेरी माँ का आदेश न होने से मैं विदेश नहीं जा सकूँगा। यदि न जाने से आप रुष्ट हों तो मेरे त्याग पत्र को स्वीकृत कर लें।"

यह सुनते ही मुखर्जी को छाती से लगाकर कर्जन बोलेः- "आज मुझे दर्शन हुए हैं - भारतीय संस्कृति की जीवित प्रतिमा के! धन्य हैं आप!"

ऐसे मातृभक्त मुखर्जी आज के शिक्षण से उत्पन्न नहीं हो पा रहे हैं। यह केवल भारत की नहीं, पूरे विश्वकी समस्या है। स्कूल-कॉलेज, सिनेमा टॉकीज और होटल के अतिरिक्त और कोई स्थान आज का छात्र नहीं जानता। धर्म उसके लिए एलर्जिक है-रोग है। उसकीं स्थिति दयनीय है। "ज्ञानस्य फलं विरतिः" (ज्ञान का फल वैराग्य है)

इस बात को वह भूल गया है। उससे हेमचन्द्राचार्य अथवा शंकराचार्य बनने की आशा नहीं की जा सकती!

एक शाला निरीक्षक जो आठवीं कक्षा का निरीक्षण करके नौवीं में पहुँचे। जिसने आठवीं में सन्तोषजनक उत्तर दिया था, उसी छात्र को नौवीं में देखकर निरीक्षक ने पूछाः- "तुम यहाँ कैसे?"

छात्र ने कहाः- "मेरा मित्र आज यहाँ अनुपस्थित है। मैं उसके बदले आ गया हूँ।"

इससे क्रुद्ध होकर निरीक्षक ने प्रधानाध्यापक से शिकायत की। प्रधानाध्यापक ने कक्षाशिक्षक को डाँटा तो वह बोला- "सर, असली कक्षाशिक्षक मैच देखने गये हैं। मैं उनका डुप्लीकेट हूँ!"

प्रधानाध्यापकः- "मेरे यहाँ ऐसा डुप्लीकेशन नहीं चलेगा! मैं तुम दोनोंको डिसमिस करता हूँ।"

इस पर काँपते हुए कक्षाध्यापक ने निरीक्षक के पाँव पकड लिये और कहाः- "मुझे बचाईये; अन्यथा मेरे बाल-बच्चे भूखे मर जायँगें!"

निरीक्षक ने हँसते हुए कहाः- "डरने की कोई बात नहीं। मैं स्वयं भी डुप्लीकेट निरीक्षक हूँ!"

इस प्रकार जहाँ सर्वत्र डुप्लीकेशन चल रहा हो, वहाँ सच्ची शिक्षा कैसे मिल सकती है?

शिक्षा के बाधक तत्त्व पाँच हैंः-

अह पंचहिं ठाणे हीं, जेहिं सिक्खा न लंभई।

थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य।।

(अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य - इन पाँच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती)

पहला बाधक तत्त्व है - अभिमान। Pride has a fall. (अभिमान का पतन होता है) हिन्दी में कहावत हैं - "घमंडी का सिर नीचा!"

अभिमानी अपने को गुरु से भी अधिक ज्ञानी समझता है। उसके प्रश्न जिज्ञासा की शान्ति के लिए नहीं, गुरु की परीक्षा के लिए होते हैं - गुरु को निरुत्तर करने के लिए होते हैं - उसे नीचा दिखाने के लिए होते हैं। ज्ञान के लिए विनय आवश्यक होता है। विनीत ही विद्या का उपार्जन कर सकता है। कोई भी गुरु अविनीत शिष्य से प्रसन्न नहीं कर सकता और प्रसन्नता के बिना वह विद्या वितरित नहीं कर सकता।

शिक्षा के लिए दूसरा बाधक होता है - क्रोध। स्वामी सत्यभक्त ने लिखा हैः-

क्रोध बड़ा भारी नशा,

पागलपन है क्रोध।

क्रोधी पा सकता नहीं,

कर्त्तव्यों का बोध।।

कर्त्तव्य का भान क्रोधी को नहीं रहता। अभिमान यदि उबलता जल है तो क्रोध उसकी भाप है। अभिमान से क्रोध अधिक बुरा है। अभिमान केवल अपने लिए घातक है; परन्तु क्रोध दूसरों के लिए भी घातक है। क्रोधी खुद जलता है और दूसरों को भी जलाता है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए जिस बुद्धि की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, क्रोध उसी को नष्ट कर देता है।

तीसरा बाधक तत्त्व है - प्रमाद। यह मानव को पंगु बनाता है - श्रम से दूर रखता है - स्फूर्ति रहित मुर्दा बना देता है। प्रमादी व्यक्ति आलस्य को आराम समझता है - उसी में सुख का अनुभव करता है। यह दोहा उसके लिए आदर्श होता हैः-

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।

दास मलूका कह गये

सबके दाता राम।।

प्रमादी परमुखापेक्षी होता है - पराधीन होता है - उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है - उसके लिए प्रगति का द्वार बन्द हो जाता है। प्रमाद ऐसा नशा है, जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना भान भूल जाता है; फिर शिक्षा को भला कैसे याद रख सकता है?

चौथा बाधक है - रोग। शारीरिक हो या मानसिक दोनों प्रकार का रोग भयंकर होता है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए चित्त की एकाग्रता जरूरी है; किन्तु जब तक रोग मिट नहीं जाता, तब तक चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। सारा ध्यान रोग खींच लेता है; इसलिए अध्ययन की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं हो सकता।

शिक्षा के लिए अन्तिम (पाँचवाँ) बाधक होता है - आलस्य। इस से मनुष्य निकम्मा हो जाता है। आलसी कोई भी काम करना नहीं चाहता। अपना काम वह दूसरों पर डाल देता है; भले ही दूसरे लोग काम बिगाड़ दें। बिगड़े काम से होनेवाली हानि भी वह सह लेता है; परन्तु स्वयं अपने हाथ से कुछ भी करना नहीं चाहता। आलस्य ऐसा शत्रु है, जो अपने शरीर के भीतर रहता है:- "आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महारिपुः। शिक्षार्थी इस महान् शत्रु का नाश करके ही सफलता पाता है।

धर्म और विज्ञान

विज्ञान और धर्म का मिलन होना चाहिये। धर्म से रहित विज्ञान तो उस बन्दर जैसा है, जिसने सोये हुए राजा की गर्दन पर बैठी हुई मक्खी को उड़ाने के लिए तलवार का प्रहार करके राजा के सिर को धड़ से अलग कर दिया था!

भौतिक सामग्री जुटा कर सुविधा प्रदान करना एक बात है और संहारक सामग्री का निर्माण करके विनाश को निमन्त्रित करना दूसरी। नल के पाइप में कचरा भरा हो तो जल का प्रवाह रुक जाता है, उसी प्रकार मन में स्वार्थ भरा हो तो परमाणु बम जैसे घातक अस्त्रों का आविष्कार और निर्माण होने लगता है तथा उससे वास्तविक विकास रुक जाता है।

जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए धन है, परन्तु लोगो में आवश्यकता से अधिक धन एकत्र करने की मनोवृत्ति ने जन्म ले लिया है। प्रभु ने परिग्रह को पाप के समान त्याज्य माना था; किन्तु उनके अनुयायी अधिक से अधिक परिग्रह में फँसते जा रहे हैं।

हर एक परिग्रही अपने से बडे परिग्रही की ओर देखकर मन में असन्तोष की आग भडका लेता है और अपने से छोटे परिग्रही को देखकर अहंकार के हाथीपर सवार हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में अमृतमय जीवन विषमय बन जाता है।

अपने शरीर को मनुष्य सजाता है, परन्तु चमडी के भीतर क्या है? इस बात का विचार नहीं करता:-

रुधिरत्रिधातुमज्जा-

मेदोमांसास्थिसंहतिर्देहः।

स बहिस्त्वचा पिनद्ध-

स्तस्मान्नो भक्ष्यते काकैः।।

(रुधिर, त्रिधातु, मज्जा, मेद, मांस और हड्डियों का संग्रह है-शरीर! वह बाहर चमडी से ढका हुआ है; इसीलिए उसे कौए नहीं खाते!)

किसी भी फेक्ट्री को देखिये। उसमें जिस रॉ मटेरियल का उपयोग होता है, वह बहुत खराब होता है, किन्तु प्रोडक्शन (उत्पादन) सुन्दर होता है; परन्तु दूसरी ओर शरीर है, जो आत्माराम एण्ड कंपनी लिमिटेड की फेक्ट्री है। उसमें जिस रॉ मटेरियल (भोजनसामग्री) की सप्लाइ की जाती है, वह बहुत सुन्दर सुगन्धित और स्वादिष्ट होती है, परन्तु उसका प्रोडक्शन? उसका नाम लेना भी अच्छा नहीं लगता!

ऐसे शरीर के लिए पाप करना मूर्खता है। शरीर को स्वस्थ रखना तो कर्त्तव्य है; परन्तु उसके पोषण के लिए पापाचरण करना अकर्त्तव्य है। शरीर से परोपकार कीजिये - साधुओं के दर्शन कीजिये - तीर्थयात्राएँ कीजिये - ध्यान कीजिये - तपस्याएँ कीजिये; परन्तु शरीर के लिए पाप मत कीजिये।

कुछ लोग कहते हैं:- "महाराज! पेट की समस्या बहुत बड़ी है। उसके लिए पाप न करें तो क्या करें?"

इसके उत्तर में कहना है- "भाई! ईमानदारी ही सबसे अच्छी नीति है. ऑनेस्टी इज द बेस्ट पोलिसी," यदि आप ईमानदारी से श्रम करते रहें तो पेट से लेकर पेटी तक का समाधान हो सकता है। बेईमानी का भाँडा फूटने पर आपकी ईमानदारी पर भी लोग विश्वास नहीं करेंगे। कहावत भी है:-

जैसे हाँडी काठ की,

चढै न दूजी बार!

एक बार बेईमानी की कलई खुल जाने पर आप का सारा धन्धा ही चौपट हो जायगा। इससे विपरीत ईमानदारी के साथ किया गया श्रम जीवनभर आप को कमाई देता रहेगा।"

धर्मशास्त्र हमें ईमानदार रहने की प्रेरणा देते हैं। वे आत्मा के स्वरूप का परिचय देते हैं। आत्मा एक नित्य तत्त्व है। शरीर अनित्य है - नश्वर है। जैसी आत्मा हमारी है, वैसी ही दूसरों की है। हम यदि दूसरों की बेईमानी पसंद नहीं करते तो दूसरे हमारी बेईमानी कैसे पसंद करेंगे?

धर्मशास्त्र हमें संयम भी सिखाते हैं। श्रीकृष्ण महाराज अपनी कन्याओं से कहते हैं:- "यदि अपने आपको महारानी

बनाना चाहो तो प्रभु नेमिनाथ के मार्ग पर चलो - संयम ग्रहण करो। इससे आत्मकल्याण तो होगा ही, समाज मे सम्मान भी खूब मिलेगा। इसके विपरीत यदि गुलामी करना चाहो, किसी की दासी बनना चाहो तो राजमहल में ही रहो। तुम्हारा विवाह कर दिया जायगा।"

संयम का पालन स्वर्ग पाने या सम्मान पाने के लिए नहीं; किन्तु मोक्ष पाने के लिए होता है। जैसे खेत में अनाज के साथ घास-फूस अपने आप पैदा हो जाती है, वैसे ही मोक्ष के लिए प्रयत्न करनेवालों को सम्मान या स्वर्ग अपने आप मिल जाता है; परन्तु घास-फूस की तरह ही सम्मान और स्वर्ग उन्हें फीके लगते हैं।

अँधेरी रात में बाहर जानेवाले हाथ में टोर्च लेकर निकलते हैं अथवा टोर्च वाले के साथ जाते हैं और यदि यह भी संभव न हो तो जानकारों से रास्ते की जानकारी लेकर चलते हैं। ठीक उसी प्रकार कुशल व्यक्ति इस संसार में संयमी बनकर या संयमियों के साथ भ्रमण करते हैं अथवा उनसे जानकारी प्राप्त करके घूमते हैं।

संयमियों का - साधुओं का या ज्ञानियों का सान्निध्य संभव न हो तो धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करते हैंः-

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते

कार्याकार्य व्यवस्थितौ।।"

(कार्य-अकार्य का निर्णय करने के लिए तुझे शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये)

मन की गुफा में सिंह की तरह कषाय छिपा रहता है, जो मौके-बेमौके प्रकट होकर जीवन को अशान्त बनाता रहता है; इसीलिए ज्ञानियों ने मन को शुद्ध बनाने पर जोर दिया है। कहते हैंः-

"मन चंगा तो कठौती में गंगा।।"

किसी कवि ने बाँसुरी से पूछा कि तुझे इतना प्रेम श्रीकृष्ण क्यों करते हैं तो उसने उत्तर दियाः- "मैं भीतर से पोली हूँ -स्वच्छ हूँ -सरल हूँ!"

मन भी आत्मारूपी कृष्ण की बाँसुरी है। उसमें निर्मलता हो - सरलता हो तो आत्मा के लिए वह प्रेमपात्र बन सकता है।

विषय और कषाय ग्यारहवें गुणस्थानक तक पहुँची हुई आत्मा को भी परेशान करते हैं और असावधान होने पर उसे पहले गुणस्थानक में पटक देते हैं।

इसलिए निरन्तर जागरूक रहने की आवश्यकता है। कहने से करना अधिक अच्छा होता है। सदाचारी व्यक्ति के आदर्श जीवन से ही लोग प्रेरणा ग्रहण कर लेते हैं। प्रगति के लिए आचार की जरूरत है, प्रचार की नहीं।

प्रगति के उच्च शिखर पर कोई उछल कर नहीं पहुँच सकता। उच्चतम आदर्श को सामने रखकर धीरे-धीरे उस ओर बढना पडता हैः-

धीरे-धीरे रे मना!

धीरे सब कुछ होय।

माली सींचे सौ घडा

रितु आये फल होय।।

"हे प्रभो! आपके ही समान मुझे पूर्ण वीतराग बनना है।" ऐसी सुदृढ भावना को सम्बल बनाकर साधक आगे बढता रहता है। कहा हैः-

"भावना भवनाशिनी।।"

(भावना भव-भ्रमण को नष्ट करती है)

पूर्वभव में शालिभद्र का जीव एक गरीब माताका पुत्र था। उसकी हठ पूरी करने के लिए इधर-उधर से माँग कर लाई गई सामग्री से माता ने पुत्र के लिए खीर बनाई। थाली में खीर परोसकर माता पानी भरने चली गई। बालक में भावना जगती है कि यदि कोई साधु आ जाय तो आहारदान करके खाऊँ। संयोग से साधु का शुभागमन होता है। वह संपूर्ण खीर का दान सहर्ष कर देता है। फलस्वरूप अगले शालिभद्र के भव में उसे अखूट सम्पदा प्राप्त होती है।

सतत संघर्ष ही जीवन है -

Life of man is the field of battle.

(मानवजीवन एक रणक्षेत्र है)

युद्ध की तरह इसमें जीत-हार होती रहती है। सच्चा खिलाडी न जीत में फूलता है और न हार में रोता है। विवेकी व्यक्ति सुख और दुःख में मानसिक सन्तुलन बनाये रखता है।

स्वामी सत्यभक्त ने लिखा हैः-

"करें परस्पर शादी अपनी

धर्म और विज्ञान।।"

प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन की इकतीसवी गाथा में कहा हैः-

"विन्नाणेण समागम्म

धम्मसाहणमिच्छिउं।।"

(धर्म के साधनों का विज्ञान से समन्वय होना चाहिये)

धर्म के बिना विज्ञान शैतान बना देता है और विज्ञान के बिना धर्म हैवान। इन्सान बनने के लिए दोनों की आवश्यकता है।

भोगों का त्याग

जीवन लेने के लिए नहीं, देने के लिए है - माँगने के लिए नहीं, अर्पण करने के लिए है - संग्रह के लिए नहीं, वितरण के लिए है। किसी विचारक ने लिखा हैः-

"मत लो भले ही स्वर्ग मिलता हो; किन्तु दे दो भले ही स्वर्ग देना पडे!"

सच्चा आनन्द त्याग में है, भोग में नहीं; सन्तोष में है, तृष्णा में नहीं। कहा हैः-

जो दस बीस पचास भयें सत

होइ हजार तु लाख मँगेगी

कोटि अरब्ब खरब्ब अनन्त

धरापति होने की चाह जगेगी।

स्वर्ग-पताल का राज करूँ

तृसना मन में अति ही उमगेगी

"सुन्दर" एक सन्तोष बिना शठ!

तेरी तो भूख कभी न मिटेगी।।

मृत्युका बुलावा आनेपर सारी संपत्ति जब यहीं छोडकर जाना है, तब लोभ क्यों किया जाय?

आपके घर पुण्य से प्राप्त परिवार होगा, पहरेदार भी होगा; परन्तु मौत आकर जब आपके घर का द्वार खटखटायेगी, तब न कोई परिवार का सदस्य ही आपको बचा सकेगा और न पहरेदार ही! उस समय न प्रथम श्रेणी का चिकित्सक आपकी रक्षा कर सकेगा और न कोई बैरिस्टर कोर्ट से स्टे ओर्डर (स्थगन-आदेश) ही ला सकेगा!

"संयोगा विप्रयोगान्ताः

मरणान्तं हि जीवितम्।।"

(सब संयोगों का अन्त वियोग से होता है और जीवन का अन्त मृत्यु से)

जब अन्त में सबका त्याग करना ही पडेगा, तब पहले से उनका त्याग क्यों न किया जाय? यही सोचकर साधु-सन्त अनगार बन जाते हैं।

विषय-कषाय के त्याग से आत्मा में प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न होती है। कोमल अंगोंवाली महासती सीता ने महान् शक्तिशाली रावण का मुकाबला कैसे किया था? राख की ढेरियों के समान हजारों नारियों से एक तिनके की तरह सुशीला स्त्री अधिक श्रेष्ठ है।

जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए चौकन्ना रहना होगा। हम जानते हैं कि एक छोटा-सा छेद नाव को डुबो देता है - एक

छोटी-सी चिनगारी पूरे गोडाउन को ही नहीं, गाँव को जला देती है। इसी प्रकार एक छोटी-सी भूल मानव को विराट से वामन बना सकती है।

छोटा-सा दाग भी सुन्दर पोशाक की शोभा को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार छोटा-सा दोष भी हमारी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला सकता है। आचरण की शुद्धि ही जीवन की शोभा है - सभ्यता है, भडकीली पोशाक नहीं।

स्वामी विवेकानन्द की पोशाक देखकर हँसने वाली एक अमेरिकन महिला से उन्होंने कहा थाः- "बहन! मैं जिस देश (भारत) का निवासी हूँ, उसमें सभ्यता का निर्माता चरित्र होता है, दर्जी नहीं।"

ऐसा सभ्य चरित्रसम्पन्न विनीत व्यक्ति जहाँ भी जाता है, वहाँ सन्मान पाता है। सद्‌गुणों से ही हमारी आत्मा सुसंस्कृत होती है। यदि हम देवलोक के स्वरूप पर विचार करें तो हमें त्याग का महत्त्व समझ में आ सकता है।

पहले बारह देवलोक हैं। फिर नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान। सबसे ऊपर है - सिद्धशिला।

पहले और दूसरे देवलोक के देव देवियों के साथ पाँचों इन्द्रियों के विषयसुख का भोग करते हैं। तीसरे और चौथे देवलोक के देव स्पर्शमात्र से भोगसुख का अनुभव करते हैं। पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियों के रूप को देखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देव देवियों के संगीत को सुनकर ही सम्पूर्ण भोगसुख पा जाते हैं। नौवें, दसवें ग्यारहवें और बारहवें स्वर्गों के देव देवियों के शरीर का केवल स्मरण करके ही रोमांचित हो जाते हैं।

बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों की कामना शान्त हो जाती है। ग्रैवेयक देव ज्ञानियों की सूक्तियों पर मनन करते हैं और अनुत्तर विमान वासी ज्ञानियों के वचनों पर अनुराग रखते हैं और यह अनुराग ही उनकी मुक्ति में बाधक होता है।

इस वर्णन से सिद्ध होता है कि ज्यों-ज्यों कामभोग की लालसा शान्त होती जाती है और ज्ञानियों के उपदेश पर श्रद्धा पैदा होती जाती है, त्यों-त्यों अधिक से अधिक सुख प्राप्त होता जाता है। वचनों का अनुराग छूटता है - मनुष्यभव में; इसलिए इस भव में उत्पन्न जीव ही मोक्ष का अधिकारी बन सकता है और शाश्वतसुख पा सकता है।

भोग में अशान्ति है, त्याग में शान्ति। प्रतिमा की पूजा में भी त्याग की प्रधानता होती है। पूजा के आठ प्रकार क्रमशः ये हैंः- (१) जलपूजा, (२) चन्दन पूजा, (३) पुष्पपूजा, (४) धूपपूजा, (५) दीपक पूजा, (६) अक्षतपूजा, (७) नैवेद्यपूजा और (८) फलपूजा।

पहली पूजा के समय पूजक सोचता है कि जल जिस प्रकार प्रतिमा के मल को धोता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा पर जो कर्ममल लगा है, उसे मुझे धोकर साफ करना है।

दूसरी पूजा के समय सोचता है कि जिस प्रकार चन्दन स्वयं घिसकर अपनी शीतलता और सुगन्ध से दूसरों को सुख देता है, उसी प्रकार मुझे भी स्वयं संकट सहकर दूसरों को सुख पहुँचाना है।

तीसरी पूजा के समय सोचता है - फूल के समान मेरा जीवन भी क्षणिक है, उसे सुन्दर सुकोमल और सुवासित बनाना है, काँटों की तरह तीक्ष्ण और असह्य नहीं।

चौथी पूजा के समय सोचता है कि जिस प्रकार धूप का धुआँ ऊर्ध्वगामी होता है, वैसे ही मुझे भी ऊर्ध्वगामी बनना है क्रमशः उन्नति के शिखर पर चढना है।

पाँचवीं पूजा के समय सोचता है कि दीपक से जिस प्रकार अन्धकार हट जाता है, उसी प्रकार प्रभु के श्रुतज्ञान से (आगम के रूप में विद्यमान उपदेश से) मेरे अज्ञान को मुझे हटाना है।

छठी पूजा के समय सोचता है कि जिस प्रकार अक्षत उज्ज्वल है, उसी प्रकार मुझे भी अपनी आत्मा को, जो अखण्ड है, पूर्ण उज्ज्वल बनाना है।

सातवीं पूजा के समय सोचता है कि नैवेद्य की तरह विविध आहार करके चार गतियों में बहुत-बहुत भटक चुका हूँ, अब मुझे प्रभु के समान अनाहारी सिद्धपद प्राप्त करना है।

अन्तिम पूजा के समय सोचता है कि फल बीज का सर्वोत्तम विकास है, वैसे ही मोक्ष जीवन का सर्वोत्तम विकास है, पूरे वृक्ष में फल से अधिक मधुर कोई वस्तु नहीं होती, उसी प्रकार जीवन में मोक्ष से अधिक मधुर कुछ भी नहीं है। प्रभु ने वह मोक्ष सुख प्राप्त किया है; मुझे भी प्राप्त करना है।

प्रभु की प्रतिमा को हम ऐसी वस्तुएँ अर्पित करते हैं, जो हमें जीवन में बहुत प्रिय लगती हैं। इस प्रकार त्याग का अभ्यास करते हैं। कहा हैः-

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।"

(त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।)

जैन धर्म में त्यागियों का ही सम्मान किया जाता है। अरिहन्त और सिद्ध - ये दो देव हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन गुरु हैं। ये पाँचों पद त्यागियों के पद हैं। नमस्कार महामन्त्र में इन्हीं पाँचों पदों को वन्दन किया जाता है।

सुदेव और सुगुरु के बाद सुधर्म का विश्लेषण करके उसे चार भागों में विभक्त किया गया है - दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप।

भोगविलास में रुचि तो संसार के सभी जीवों में होती है, परन्तु जिन भव्य जीवों की रुचि तत्त्वज्ञान में होती है, वे ही आत्मकल्याण कर पाते हैं। धर्मशास्त्रों के प्रति यह रुचि (श्रद्धा) ही दर्शन है।

श्रद्धा को विवेक की आँखें चाहिये। विवेक से श्रद्धा शुद्ध होती है। विवेकशून्य श्रद्धा अंधश्रद्धा बन जाती है। धर्मशास्त्रों के प्रति श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है। उनका अध्ययन भी आवश्यक है। शास्त्रों के अध्ययन से - प्रवचनों के श्रवण से - ज्ञानियों के साथ बैठकर चर्चा करने से विवेक की जो आँखें खुलती है, उसे ज्ञान कहते हैं।

श्रद्धापूर्वक शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान का आचरण चारित्र है, जिसमें प्रवृति रूप पाँच समितियों और निवृत्तिरूप तीन गुप्तियोंका समावेश होता है।

चारित्र के पालन में जो परीषह (भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि बाईस) और उपसर्ग (विविध उपद्रव) आते हैं, उन्हें समभाव और शान्ति से सहना तप है। वैसे शास्त्रों में अनशनादि छह बाह्य और प्रायश्चित्तादि छह आभ्यन्तर कुल बारह प्रकार के तपों का वर्णन आता है। तप से कर्मों की निर्जरा होती है - आत्मा हल्की होती जाती है।

इस प्रकार दो सुदेव, तीन सुगुरु और चार सुधर्म के योग से नवपद बनते हैं। इन नव पदों की पूजा, आराधना और साधना से जीवन परम पद (मोक्ष) का अधिकारी बनता है। मोक्ष के महान् मधुर फल का बीज है - भोगों का त्याग!

दुर्लभ चतुरंग

तिमिर से तेज की ओर बढने का प्रयास करनेवाले जीव के लिए शास्त्रों में चार पुरुषार्थो, चार सुख शय्याओं एवं चार दुर्लभ अंगोंका वर्णन आता है। क्रमशः हम उन पर विचार करेंगे।

धर्म, अर्थ काम और मोक्ष - ये चार पुरुषार्थ हैं। जैसा कि कहा हैः-

धर्मार्थ काम मोक्षाणाम्

यस्य कोऽपि न विद्यते।

अजागलस्तनस्येव

तस्य जन्म निरर्थकम्।।

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चारों में से एक भी पुरुषार्थ जिसके जीवन में नहीं होता, उसका जन्म बकरी के गले में लटकने वाले स्तनों की तरह निरर्थक होता है (बकरी के उन स्तनों से दूध नहीं निकलता)]

आज सारी दुनिया में अर्थ और काम का ही बोलबाला है; धर्म और मोक्ष की ओर ध्यान देने की किसी को फुरसत ही नहीं मिलती; इसीलिए इतनी अधिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं कि सभी राष्ट्रीय नेता उनसे परेशान हैं।

सबसे पहला पुरुषार्थ धर्म है। अर्थ के उपार्जन में भी धर्म (ईमानदारी, नैतिकता) की आवश्यकता होती है और अर्थ (धन) के उपयोग (परोपकार) में भी। दान करने से पुण्य होता है और पुण्य से धन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्म और अर्थ आपस में एक दूसरे पर निर्भर हैं। उनका घनिष्ट सम्बन्ध है।

तीसरा पुरुषार्थ है-काम। गीता में लिखा हैः-

धर्माविरुद्धो भूतेषु

कामोऽस्मि भरतर्षभ!

(हे अर्जुन! मैं प्राणियों में धर्म के अविरुद्ध काम हूँ)

जो काम धर्म के विरुद्ध है, वह पाप है - व्यभिचार है - त्याज्य है। काम को धर्म की मर्यादा में रहना चाहिये। शास्त्रों में श्रावक-श्राविकाओं के लिए चौथा अणुव्रत इसीलिए बनाया गया है। श्रावक "स्वदारसन्तोष" का और श्राविकाएँ स्वपतिसन्तोष" का पालन करें तो उनका काम धर्म की मर्यादा में रहेगा।

इस प्रकार जिसके जीवन में धर्म ओतप्रोत हो जाता है, उसमें समस्त सद्‌गुणों का धीरे-धीरे निवास होने लगता है।

सद्गुणों में त्याग और संयम की पराकाष्ठा होने पर - तपस्या से कर्मों का क्षय हो जाने पर अन्तिम ज्ञान और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का आनन्द मिलता है।

वह आनन्द शाश्वत होता है, स्थिर होता है। दिन-भर परिश्रम करने के बाद हो विश्राम का आनन्द लेने के लिए मनुष्य सोता है। सोने के लिए शय्या का उपयोग करता है। शास्त्रकारों ने जीव के लिए चार सुख शय्याएँ बताई हैं।:- (१) श्रवण, (२) मनन, (३) माध्यस्थ्य और (४) आत्मचिन्तन।

प्रभु की वाणी को गुरुमुख से सुनना 'श्रवण' है। श्रवण करनेवाला ही श्रावक कहलाता है। सुननेवाला ही जान सकता है। महापुरुषों के अनुभव शास्त्रों के रूप में मौजूद हैं। जो विशिष्ट विद्वान् हैं, वे तो शास्त्रों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त कर लेंगे; परन्तु अन्य सब लोग गुरु मुख से व्याख्यान सुनकर ज्ञान प्राप्त करते हैं।

दूसरी शय्या है - मनन। पशु खाने के बाद जुगाली करते हैं। इससे पाचन अच्छा होता है। इसी प्रकार श्रुत ज्ञान पर मनन करना चाहिये। जो कुछ सुनने में आया हो, उस पर विचार करना चाहिये। बिना विचार किये पढ़ना या सुनना वैसे ही व्यर्थ हो जाता है. जैसे बिना पचाये खाना। मनन करने से सुना हुआ ज्ञान पुष्ट होता है।

तीसरी शय्या है - माध्यस्थ्य। इसका मतलब है दूसरों के दोषों की उपेक्षा करना। लोगों को दूसरों की लडाई देखने में - दूसरों की निन्दा सुनने में - दूसरों के दोषों की चर्चा करने में रस आता है; किन्तु धर्म प्रेमी यह सब प्रपंच पसंद नहीं करता। वह अपने दोषों पर ही ध्यान देता है, दूसरों के दोषों पर नहीं।

चौथी शय्या है - आत्मचिन्तन। इसका मतलब है अपने आपके विषय में विचार करना। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? क्यों आया हूँ? मेरे जीवन का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन को प्राप्त करने का उपाय क्या है? उस उपाय का उपयोग मैं कर पा रहा हूँ या नहीं? कौन-सी कमजोरी उस उपाय के अवलम्बन में बाधक है? उस कमजोरी को दूर करने के लिए मैं क्या कर रहा हूँ? ऐसे प्रश्नों पर विचार करने से वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, जो जीव को मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है।

प्रभु महावीर स्वामी ने चार दुर्लभ तत्त्वों की चर्चा की हैः-

चत्तारि परमंगाणि

दुल्लहाणि य जंतुणो।।

माणुस्सत्तं सुई सद्धा

संजमम्भि य वीरियं।।

[प्राणियों के लिए दुर्लभ (बहुत कठिनाई से प्राप्त होनेवाले) चार अंग परम (श्रेष्ठ) हैं - मनुष्यता, श्रुति, श्रद्धा और संयम का पालन।]

चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकते हुए जीव को पुण्यों का विशाल पुंज एकत्र होने पर मनुष्य शरीर मिलता है। मनुष्य ही मनन कर सकता है और अपने कर्मों का क्षय करके मोक्ष पा सकता है। पशु अपना दुःख शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता, मनुष्य कर सकता है; क्योंकि उसे एक समृद्ध और विकसित भाषा का ज्ञान होता है; इसलिए पशु से मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य शरीर पाकर भी कई लोग दुष्ट बन जाते हैं - दुर्बलों को सताते हैं - दूसरों की निन्दा करते हैं। ऐसे मनुष्यों से तो पशु ही श्रेष्ठ होते हैं, जो वैसे बुरे कार्य नहीं करते।

शास्त्र की गाथा में "माणुस्सत्तं" शब्द का प्रयोग है अर्थात् मनुष्यता को दुर्लभ बताया गया है। सहानुभूति स्नेह, अनुकम्पा, परोपकार आदि मानवता के अंग हैं। इन गुणों को आत्मसात् करनेवाला ही वास्तव में मानव है; अन्यथा वह दानव है। दानवता सुलभ है, मानवता दुर्लभ।

दूसरा दुर्लभ अंग है - श्रुति अर्थात् शास्त्रों का श्रवण करना। प्रभु के वचनामृत का पान करने से धार्मिक जीवन की पुष्टि होती है। प्रथम सुखशय्या के रूप में इस पर विचार किया जा चुका है।

तीसरा दुर्लभ अंग है - श्रद्धा। मनुष्य-भव में शास्त्रों के श्रवण का अवसर भी आ जाय, किन्तु यदि श्रद्धा पैदा न हो तो उसका लाभ नहीं मिल सकता। यदि सुनने के बाद कोई शंका हो तो जिज्ञासा के रूप में रखकर ज्ञानी गुरुओं से उसका समाधान पा लेना चाहिये। कहा हैः-

यस्याग्रे न गलति संशयः समूलो

नैवासौ क्वचिदपि पण्डितोक्तिमेति।।

(जिसके सामने अपना संशय जडमूल से न उखड जाय, उसे कभी 'पंडित' नहीं कहते!)

पंडित मुनियों से शंकाओं का निवारण कर लेने पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा ही हमारे जीव में परिवर्त्तन लाती है।

चौथा दुर्लभ अंग है - संयम का पालन। श्रद्धा हो जानेपर भी प्रमाद के वशीभूत प्राणी संयम से कतराता है। संयमी जीवन में आनेवाले परीषहों और उपसर्गों की संभावना से वह घबराता है। परिवार का मोह उसे रोकता है; इसलिए प्रभु ने संयम को सब से अधिक दुर्लभ बताया है।

जो लोग संयमियों के सम्पर्क में रहकर उन के जीवन को निकट से देखते हैं. उनकी निर्भयता और सुखशान्ति से आकर्षित होते हैं, उनको प्राप्त होने वाले असाधारण सम्मान से प्रभावित होते हैं, उनके लिए संयम दुर्लभ नहीं रह जाता। वे संयमी जीवन को अंगीकार करके सहर्ष आत्मकल्याण के मार्ग पर चल पडते हैं और दूसरों को भी उस पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं।

एक बार महाराज कुमारपाल ने आचार्य देवेन्द्र सूरि से कहाः- "आप मुझे स्वर्णसिद्धि का प्रयोग सिखा दें, जिससे मैं प्रजाजनों में स्वर्ण बाँट कर सबको सम्पन्न और सुखी बना सकूँ।"

सूरिजी बोलेः- "यदि स्वर्ण से ही लोग सुखी हो सकते तो तीर्थंकर देव भी सब को स्वर्णका ही दान करते, उपदेश का नहीं। तृष्णा ही दुःखका कारण है। सुख का निवास सन्तोष में है - संयम में है।"

कुमारपाल संयम का महत्त्व समझ गये। हमें भी समझकर संयम की ओर बढना है।

ज्ञान से मोक्ष

जो दिखाई देता है, उसे क्या देखें? जो नहीं दिखाई देता, वही देखने योग्य है; लेकिन उस अरूपी पदार्थ को ज्ञान चक्षु से ही देखा जा सकता है, चर्मचक्षुओं से नहीं।

कौन खोलेगा ज्ञानचक्षु? संयमी साधु या ज्ञानी गुरु!

अज्ञानतिमिरान्धानाम्

ज्ञानाञ्जन-शलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन

तस्मै श्री गुरवे नमः।।

(अज्ञान के अन्धकार से अन्धों की आँख को ज्ञान रूपी अंजन शलाका से खोलने वाले गुरु को मैं नमन करता हूँ।)

जम्बूकुमार के ज्ञानचक्षु सुधर्मा स्वामी के उपदेश से खुल गये। वे अपनी नवोढाओं को सांसारिक सम्बधों की असारता समझाते हैं और जिनेश्वर से सम्बन्ध जोडने की सलाह देते हैं, जो कभी नहीं टूटता, जिसमें वियोग की कोई सम्भावना नहीं है।

चोरों का सरदार प्रभव चोरी करने आता है और इस उपदेश को जम्बू कुमार से सुनकर उसकी भी आँखें खुल जाती है।

फलस्वरूप जम्बूकुमार जब दीक्षा लेते हैं, तब पाँच सौ चोर साथियों सहित प्रभव भी दीक्षित हो जाता है। गुरुदेव के सान्निध्य में श्रुतज्ञान प्राप्त करके संयम और तपस्या के बल पर प्रगति करते हुए वे आचार्य प्रभवस्वामी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।

गुरुदेव की कृपा से दृष्टि में ऐसी ही निर्मलता आ जाती है। कहावत हैः-

"जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि!"

दुर्योधन से राजसभा में पूछा गया कि अच्छे आदमी कौन-कौन हैं तो बोला - "सिर्फ मैं ही अच्छा हूँ।" इससे विपरीत युधिष्ठिर से पूछा गया कि बुरे आदमी कौन-कौन हैं तो बोलेः- "सिर्फ मैं ही बुरा हूँ!"

चंडकौशिक की दृष्टि में विष था और महावीर प्रभु की दृष्टि में क्षमा का अमृत। अमृत विष को शान्त कर देता है। महावीर के मुखारविन्द से उपदेश के मकरन्द बिन्दु झरते हैं।:-

संबुज्झह किं न बुज्झह

सबोही खलु पेच्च दुल्लहा!"

(हे चण्डकौशिक! समझ, तू भला समझता क्यों नहीं? मरने के बाद यह समझ तेरे लिए दुर्लभ होगी।)

वह समझ जाता है - क्रोध का त्याग कर देता है - उसका आतंक समाप्त हो जाता है। उसके प्रति लोगों का दृष्टिकोण भी बदल जाता है।

प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र में दृष्टि के दो प्रकार बताये हैं - अमांगलिक और मांगलिक।

पहली दृष्टि से सुख में भी दुःख दिखाई देता है और दूसरी से दुःख में भी सुख। पीलिया के रोगी को जिस प्रकार सभी वस्तुएँ पीली नजर आती हैं, वैसे ही अमांगलिक दृष्टि वाले को सर्वत्र प्रतिकूलताएँ ही दिखाई देती हैं।

भौतिक सामग्री की प्रचुरता जिनके पास होती है, उनसे यदि हम अपनी तुलना करके ईर्ष्या की आग में जलते रहें तो यह महज एक मूर्खता होगी; क्योंकि जिसे हम सुखी समझते हैं, वह भी अपनी वर्त्तमान सम्पत्ति से असन्तुष्ट है। वह भी अपने से बडे धनवान् की बराबरी करने के लिए दिनरात दौड़धूप करता रहता है।

महात्मा शेखसादी के जूते फट गये। बिना जूतों के उन्हें चलने-फिरने में तकलीफ होने लगी। खुदा से जूतों की एक जोडी माँगने के लिए वे मस्जिद की ओर लपके। मस्जिद के द्वार पर एक ऐसे आदमी को बैठे हुए उन्होंने देखा जिसकी दोनों टाँगें नहीं थीं तो वे उल्टे पाँव लौट आये और खुदा को इस बात के लिए शुक्रिया अदा करने लगे कि उनकी दोनों टाँगें तो कम से कम सही-सलामत हैं। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में परिवर्त्तन होते ही वे सुखी हो गये।

कुत्तों ने भौंक-भौंक कर नींद हराम कर दी तो मकान मालिक सुबह उठकर खूब बक-झक करता रहा; किन्तु पड़ोसियों के कहने से जब उसे पता चला कि कुत्तों के भौकने से चोर भाग गये थे, तब उसकी नाराजी खुशी में बदल गई!

ऐसे सैकड़ों उदाहरण हमारे आसपास मिल सकते हैं, जब दृष्टिकोण बदलने पर अनुभूति बदल जाती है; इसलिए अपनी दृष्टि को सदा अनुकूल बनाये रखना चाहिये जिससे अशान्ति मन में प्रवेश न कर सके।

मांगलिक दृष्टि हमेशा दूसरों के गुण देखती है, जिससे उन्हें अपनाया जा सके और अपने दोष देखती है, जिससे उन्हें सुधारा जा सके। इस प्रकार यह दृष्टि अधिक से अधिक सज्जनों की सृष्टि करती है।

अमांगलिक दृष्टि दूसरों को दुःखी देखकर खुश होती हैः इसलिए दूसरों को सताने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती है। उसे दुष्ट बनाकर ही दम लेती है।

जल में डूबते किसी चूहे को एक हंस ने बचा लिया। उस समय वह मारे ठण्ड के ठिठुर रहा था; इसलिए दया करके उसे उसने अपने पंखों के नीचे छिपा लिया, जिससे बाहर की ठंडी हवा उसे न लगे और शरीर की गर्मी से उसे राहत मिले; किन्तु राहत पाकर चूहे ने हंस के पंखों को ही कुतर डाला? फलस्वरूप हंस उड नहीं सका। अमांगलिक दृष्टि वाले दुष्ट अपने उपकारी पर भी अपकार करनेवाले ऐसे ही चूहे जैसे होते हैं।

गुरु कृपा से प्राप्त मंगलमय दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है - सम्यक्त्व है - सद्विचारकता है - शुद्ध भावना है, जिसको प्राप्त किये बिना पूजा हो या प्रभुदर्शन, सामायिक हो या प्रतिक्रमण, भक्ति हो या भजन, तपस्या हो या प्रत्याख्यान - कोई भी धार्मिक क्रिया सफल नहीं हो सकती! जैसा कि कल्याणमन्दिरस्तोत्र में कहा हैः-

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि

नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।

जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव! दुःखपात्रम्

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।।

(हे जनबन्धु प्रभो! मैंने आपके उपदेशों को खूब सुना है, आपकी खूब पूजा की है तथा आपके खूब दर्शन किये हैंः फिर भी निश्चयपूर्वक मैंने आपको भक्ति-भाव से मनमें स्थापित नहीं किया; इसीलिए मैं दुःखों का पात्र बना हुआ हूँ; क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ कभी सफल नहीं होतीं।)

सद्गुरुओं के सान्निध्य से ज्ञानचक्षु खुलने पर अरूपी तत्त्व का साक्षात्कार होता है, जिसे आत्मा कहते हैं। यह एक नित्य तत्त्व है। शरीर बदल जाते हैं; परन्तु आत्मा नहीं बदलती। वह आनन्दमय होती है। प्रसन्न रहना और दूसरों को प्रसन्न रखना उसका स्वभाव होता है।

आत्मज्ञ सदा आशाओं को वश में रखते हैं। वे आशाओं के वश में नहीं रहते। वे जानते हैंः-

आशाया ये दासा-

स्ते दासाः सर्वलोकस्य।

आशा दासी येषाम्

तेषां दासायते लोकः।।

(जो आशा के दास होते हैं, वे सारे संसार के दास होते हैं; किन्तु आशा जिन की दासी होती है, उनका दास संसार होता है)

आशा, इच्छा, तृष्णा और भोगवासना ही जीव को भव-भव में भटकाते हैं। यदि हम छाया को पकडने के लिए उसका पीछा करें तो भागते-भागते थक जायँगे, परन्तु वह पकड में नहीं आयगी। यही हालत विषय सुखों के पीछे भागने वाले जीवों की होती है।

यदि हम छाया का पीछा छोडकर सूर्य की ओर मुँह करके खडे हो जायँ - सूर्य की ओर दौडें तो छाया हमारे पीछे-पीछे भागती चली आयगी। इसी प्रकार जो लोग भोगवासना को पीठ दिखाकर मोक्ष रूपी सूर्य की ओर दौड लगाते हैं, भोग-विलास उनका पीछा करते हैं। स्वामी विवेकानन्द से एक महिला ने कहाः- "मैं चाहती हूँ कि आपके ही समान एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दूँ!"

इसका आशय स्पष्ट ही प्रणय निवेदन था; किन्तु अनासक्त भाव से सावधान होकर विवेकानन्द ने उत्तर दियाः- "माँ! तुम मुझे ही अपना पुत्र मान लो।"

ज्ञानी वासना के बन्धन में नहीं फँसते। वासना की पूर्ति से प्राप्त क्षणिक सुख के बदले वे मोक्ष का स्थायी सुख पाने का प्रयास करते हैं।

कथा-खण्ड

पुण्यपाल

महाराज पुण्यपाल आठ स्वप्न देख कर एक दिन प्रातः उठे। प्रारंभिक क्रियाओं से निवृत्त होकर वे प्रभु महावीर के दर्शन, वन्दन और प्रवचन श्रवण के लिए पहुँचे। प्रवचन समाप्त होने के बाद उन्होंने अपने सपने सुनाये। उन सपनों का आशय प्रकट करने के लिए उनसे जो कुछ गया, उसका सारांश इस प्रकार हैः-

पहला सपनाः- एक विशाल काय हाथी, जिसे बडी गजशाला में बाँधा गया था, बन्धन छुडाकर पुरानी छोटी गजशाला में चला जाता है।

-संसारी प्राणियों को त्याग का मार्ग रुचेगा नहीं। वे भोगमार्ग में भटकेंगे। यदि त्याग का विचार कभी आ भी गया तो वह टिकेगा नहीं।

दूसरा सपनाः- एक छोटा बन्दर किसी बडे बन्दर से झगड रहा है।

-भविष्य में होनेवाले आचार्य परस्पर हिल मिलकर नहीं रह सकेंगे।

तीसरा सपनाः- कल्पवृक्ष के फल आसपास की बागड में गिर जाते हैं, जिससे लोगों को वे मिल न सकें।

-लोग दान तो अवश्य करेंगे; किन्तु उसका लाभ कुपात्र ही उठायेंगे। सुपात्रदान नहीं के बराबर होगा।

चौथा सपनाः- सुन्दर सरोवर के तट पर बैठा हुआ एक कौआ निकट ही बहते हुए गन्दे नाले का जल पीता है और पनिहारिनों के सिरपर रहे हुए घडों का जल अपनी चोंच से अशुद्ध कर देता है।

-घर का पवित्र भोजन लोगों को पसंद नहीं आयगा और बाहर (होटल आदि) के अपवित्र भोजन को भी वे खुशी से खायँगे। साधु और श्रावक किसी का उपदेश सुनना नहीं चाहेंगे। जाति और समाज के बन्धन शिथिल होते जायँगे।

पाँचवाँ सपनाः- एक जंगल में कोई तेजस्वी सिंह मरा हुआ पड़ा है। उसे देखकर सियार भाग जाते हैं; किन्तु उसी (सिंह) के शरीर में उत्पन्न कीडे उसे नोंच-नोंचकर खा रहे हैं।

-तीर्थंकर, केवली, गणधर, चौदह पूर्वधर जैसे महाज्ञानियों के अभाव में भी जैनशासन मौजूद रहेगा। मिथ्यात्वी उससे डर कर दूर भाग जायँगे; परन्तु आन्तरिक मत-भेदों से वह छिन्न-भिन्न होता रहेगा।

छठा सपनाः- सुन्दर निर्मल सरोवर में कोमल कमल खिल रहे हैं; परन्तु उनमें सुगंध का अभाव है। इसके विपरीत कूडे के ढेर पर खिले हुए कमलों में भरपूर सुगन्ध है।

-उत्तम देश और उच्च कुल में उत्पन्न पुरुष अधार्मिक होंगें। इससे विपरीत साधारण देश-कुल में उत्पन्न पुरुष धार्मिक होंगे।

सातवाँ सपनाः- एक किसान अनुर्वर भूमि में, उगनेवाला उत्तम बीज और उर्वर भूमि में, न उगने वाला खराब बीज बो रहा है।

-अच्छे परोपकार के पवित्र कार्यों में धन का दान न करके लोग भोग-विलास के अपवित्र कार्यों में ही धन खर्च करेंगे।

आठवाँ सपनाः- कमल की पंखुरियों में (चाँदी का) श्वेत कलश गन्दे जल से भरा हुआ है। पत्ते उस पर चिपटे हुए हैं।

-सुन्दर पोशाक धारण करने वालों के दिल में दुर्भावना रहेगी। सज्जन कम होंगे, दुर्जन अधिक। दुर्जन सर्वत्र सज्जनों को सतायँगे।

महाराज पुण्यपाल को सपनों का जैसा आशय बताया गया था, उसके अनुसार हमें आज सारे दृश्य दिखाई दे रहे हैं। जैसेः-

(१) मनुष्य सदा भोग के ही विचार करता है। भोगोपभोग की सामग्री जुटाने के ही लिए धनोपार्जन करता है। इस बात को वह भूल जाता है कि धनमें सुख नहीं है-

जनयन्त्यर्जने दुःखम्

तापयन्ति विपत्तिषु।

मोहयन्ति च सम्पत्तौ

कथमर्थाः सुखावहाः।।

(जो धन कमाते समय दुःख देते हैं - संकटों में सन्तप्त करते हैं और सुख में मोहित करते हैं, वे सुखद कैसे हो सकते हैं?)

धन साध्य नहीं है। वह परोपकार का साधन है। सत्कार्यों में उसका त्याग करना चाहिये। लोगों के हृदय में त्याग का विचार उठता तो है, परन्तु स्वार्थ के कारण वह टिक नहीं पाता।

(२) आज कितने अधिक आचार्य हो गये हैं? देखिये। एक म्यान में जिस प्रकार दो तलवारें नहीं रह सकती; एक जंगल में जिस प्रकार दो सिंह नहीं रह सकते; उसी प्रकार एक धर्मस्थान में एक साथ दो आचार्य नहीं रह सकते।

प्राचीन काल में यह समस्या बिल्कुल नहीं थी; क्योंकि तब एक समय में एक ही आचार्य होते थे। आज की तरह जैन धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नहीं थे; इसलिए अलग-अलग आचार्यों की जरूरत भी नहीं थी। सभी उपाध्याय और साधु किसी एक ही आचार्य के अनुशासन में विचरण करते थे।

स्पष्ट ही हम देखते हैं कि आज उस स्थिति का अभाव हो गया है।

(३) जहाँ तक दान का सवाल है, वह खूब हो रहा है। चन्दा माँगने वाले रसीद कट्टे लेकर घूमते रहते हैं। कुछ लोगों ने तो चन्दे को धन्धे के ही रूप में अपना लिया है। संस्थाओं के संचालकों से लोग सौ-पचास रुपयों में कट्टे खरीद लेते हैं। फिर उन कट्टों पर हजारों रुपये प्राप्त करके अपनी जेब में डाल लेते हैं। इस प्रकार अपात्रों या कुपात्रों के पास धन चला जाता है। सुपात्रों को बहुत कम धन मिल पाता है।

(४) आज उपदेश देना तो सब चाहते हैं; परन्तु सुनना कोई नहीं चाहता। उपदेश देने में गुरुता के गौरव का अनुभव होता है। "मैं अधिक समझदार हूँ - दूसरों का उपदेशक बनने की योग्यता रखता हूँ" - इस घमण्ड का पोषण होता है; परन्तु उपदेश सुनने से अपनी अज्ञता के बोध की वेदना होती है। दोस्तों को घर में चाय पिलाने की अपेक्षा होटल में ले जाकर पिलाना क्यों अधिक पसंद किया जाता है? उसमें भी अपने धनवान् होने के घमण्ड की पुष्टि होती है।

(५) दूसरे धर्मों के देवों, गुरुओं और क्रियाकाण्डों की तुलना में जैन धर्म के देव, गुरु आदि अधिक श्रेष्ठ होने से सम्यक्त्व कायम है और मिथ्यात्वों का हृदय में प्रवेश नहीं हो पाता; परन्तु श्वेताम्बर, दिगम्बर, तीन थुई, चार थुई, स्थानक वासी, मूर्तिपूजक, तेरहपन्थी, तारणपन्थी आदि अनेक अलग-अलग सम्प्रदायों में टूट कर जैन शासन बिखर गया है - प्रभाव हीन हो गया है। यह स्थिति हम सब के लिए लज्जास्पद है।

(६) धर्म का सार है - नैतिकता और प्रामाणिकता। ये दोनों गुण जितने विदेशों में आज पाये जाते हैं, उतने अपने उत्तम देश भारत में नहीं। भारत में जितने महापुरुषों ने - धर्मगुरुओं ने - धर्मस्थानों ने - तीर्थों ने और धर्मशास्त्रों ने जन्म लिया है, उतने ने विदेशों में नहीं; फिर भी जितनी बेईमानी, मिलावट, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि भारत में फैली है, उतनी विदेशों में नहीं।

यूरोप में वेजिटेबल सोसायटियों की स्थापनाएँ हो रही हैं, किन्तु भारत में मांसाहार का प्रचार बढ रहा है। कुलीन

विद्वान् नौकरी के लिए तरस रहे हैं, किन्तु आरक्षण का लाभ उठाकर हरिजन-आदिवासी बडे-बडे अफसर बनते जा रहे हैं।

(७) आज वैज्ञानिक सामग्री के आविष्कारों से सुख पाने की लालसा के कारण टेलीवीजन, रेडियो, कार, रेफ्रीजरेटर, स्टीरियो, केसेट टेपरिकार्डर आदि में हजारों रुपये लोग खुशी से खर्च कर देते हैं; परन्तु परोपकार या सार्वजनिक हित के कार्यों में पाँच-दस रुपये भी बहुत मुश्किल से देते हैं।

(८) नीम के पेड़ दुनिया में अधिक हैं, आम के कम काँटे अधिक हैं, फूल कम-पत्थर अधिक हैं, रत्न कम! उसी प्रकार दुर्जन अधिक हैं, सज्जन कम। दुष्ट हमेशा शिष्टों को परेशान करते रहते हैं। कुछ लोगों की आदत ही होती है कि जब तक किसी से झगड नहीं लेते या दस-पाँच गालियाँ नहीं बक लेते, तब तक उन्हें भोजन ही नहीं भाता!

भविष्य के इस चित्रण को (जो इस समय हम देख रहे हैं) स्वप्नफल के रूप में सुनकर संसार से पुण्यपाल को विरक्ति हो गई। उन्होने प्रभु महावीर से संयम ग्रहण करके आत्मकल्याण के पथ पर कदम बढा लिया। धन्य हो गया-उनका जीवन!

अंजना

ससुराल और पीहर से अपमानित होकर अंजना जंगल में चली जाती है और वहाँ पके हुए पेडों के फलों तथा बहते हुए झरने के निर्मल जल का उपयोग करती हुई निर्भयता और शान्ति से अपने गर्भस्थ शिशुका पोषण करती है।

पुण्योदय से एक दिन चार ज्ञान के धारक महामुनि विद्याचरण के दर्शन होते हैं।

श्रद्धापूर्वक वन्दन करके ज्ञानी गुरुदेव से अंजना पूछती हैः- "भगवन्! कृपा करके मुझे अपने पूर्वभव का वृत्तान्त बताइये, जिससे मैं समझ सकूँ कि इस भव में मेरा इतना अपमान क्यों हुआ? क्यों मुझे इतना दुःख उठाना पडा?"

गुरुदेव बोलेः- "बेटी! वृत्तान्त सुनाने से पहले मैं तुम्हें एक खुशखबर सुना देना चाहता हूँ कि तुम्हारे उदर में जो जीव पल रहा है, वह अत्यन्त पुण्यशाली है। पिछले पाँच भवों से वह धर्माराधना करता आ रहा है और यह उसका चरम शरीर है। इसी भव में वह केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाने वाला है।"

यह सुनकर अंजना को असीम सुख का अनुभव हुआ; फिर भी अपना पूर्वभव जानने की उत्सुकता उसमें बनी रही। मुनिवर ने उसकी उत्सुकता को शान्त करने के लिए पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाना प्रारम्भ किया। बोलेः- "एक राजा थे - कनकराय। दो रानियों के पति थे। एक रानी का नाम था - कनकोदरी और दूसरी का लक्ष्मीवती।

"तस्यासीत् गेहिनी लक्ष्मी-

र्लक्ष्मीर्लक्ष्मीपतेरिव।।"

उसकी रानी लक्ष्मी साक्षात् लक्ष्मीपति (विष्णु) की लक्ष्मी के समान सुन्दर थी। राजा उसकी सुन्दरता पर मुग्ध थे। यही कारण था कि वे लक्ष्मीवती को अधिक चाहने लगे थे। इससे कनकोदरी के मन में ईर्ष्याग्नि भड़क उठी। वह उसे परेशान करके सन्तोष का अनुभव करने लगी।

लक्ष्मीवती प्रभु की एक प्रतिमा का प्रतिदिन भक्ति भाव से पूजन किया करती थी। कनकोदरी ने एक दिन उस प्रतिमा को घूरे के ढेर में ले जाकर छिपा दिया। बाईस घंटे तक उसके वियोग में लक्ष्मीवती तडपती रही। फिर कनकोदरी ने उसे दया करके प्रतिमा लौटा दी। हे बेटी! पूर्वभव की वह कनकोदरी ही तू है। बाईस घंटे तक तू ने लक्ष्मीवती को उसकी प्रिय प्रतिमा से वियुक्त रक्खा; इसीलिए इस भव में तू अपने प्रियतम से बाईस वर्षों तक वियुक्त रही। वियोग की वह अवधि अब लगभग समाप्ति पर है। अब शीघ्र ही रात के बाद जिस प्रकार सूर्योदय होता है, वैसे दुःख के बाद तुम्हारे सुख के दिन आनेवाले हैं।"

ऐसा कह कर मुनि चले गये। इधर सवा नौ मास पूर्ण होने पर अंजना ने एक तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया; किन्तु ऐसे जंगल में जन्मोत्सव मनाने के लिए फूटी थाली बजाने वाला भी कोई नहीं था। अपने इस दुर्भाग्य पर वह सिसकियाँ भर-भर कर रोने और विलाप करने लगी।

उसी समय प्रतिसूर्य अपने विमान में बैठकर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था। विलाप की ध्वनि सुनते ही उसने विमान को नीचे उतारा। बातचीत से पता चला कि अंजना उसकी भान्जी थी। बडे प्रेम और हर्ष से दोनों को विमान में बिठा कर वह अपनी राजधानी के राजमहल में ले जाता है।

कहावत है- "जैसी सीप, वैसा मोती।" बाईस वर्ष के संयम के बाद यह शिशु तेजस्वी माता से उत्पन्न हुआ था; इसलिए माता के ही समान उसके मुखमण्डल पर भी तेजस्विता चमक रही थी। इस शिशु का नाम रखा जाता है - हनुमान्।

उधर युद्ध में शानदार विजय प्राप्त करके अंजना के पति पवनंजय कुमार जब अपनी राजधानी में लौटते हैं तो सारे

नागरिक उन पर फूलों की बरसात करके उनका स्वागत करते हैं। कुमार राजमहल में पहुँचकर माता-पिता को प्रणाम करते हैं और फिर सीधे अंजना के कमरे की ओर बढ जाते हैं।

उस कमरे का बन्द द्वार खोलते हैं तो पता चलता है कि उसके आँगन में एक-एक इंच धूल जमी हुई है। वे भावुक होकर इधर-उधर नजर दौडाते हैं और पुकारते हैं- "अंजना!....अंजना!....कहाँ हो अंजना?...मेरी आँखें तुम्हें देखने के लिए तरस रही हैं! जल्दी आओ..सामने आओ...इन आँखों की प्यास बुझाओ।"

परन्तु इस चीख-पुकार का उन्हें कोई उत्तर नहीं मिलता। भागते हुए वे माँ के पास लौट आते हैं और अंजना के विषय में पूछते हैं। माँ कहती है -"नाम मत लो उस कुलक्षणा का! जिसने अपने कुकर्म से दोनों कुलों का यश मिट्टी में मिला दिया है। विवाह के बाद कभी तुमने उससे बात नहीं की। इक्कीस वर्ष इसी तरह बिना बोले बीत गये और गतवर्ष तो तुम युद्धार्थ अपनी सेना के साथ प्रस्थान ही कर गये थे। इस प्रकार मिलन का मौका ही नहीं आया; फिर भी उसके शरीर में गर्भचिन्ह प्रकट होने लगे तो इससे पहले कि लोग हमारे कुल की पवित्रता पर उँगली उठायें, हमने अंजना को घरसे निकाल दिया।"

कुमारः- "अन्धेर हो गया माँ! तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये था। सेना के साथ जिस दिन युद्ध के लिए हमने प्रस्थान किया था। उसी दिन हमारा पडाव एक सरोवर के तट पर हुआ। चाँदनी रात थी। सारी सेना सो रही थी; परन्तु सरोवर के तट पर एक पक्षि युगल को रतिकेलि निमग्न देख कर मुझे भी अंजना की याद आ गई। नींद आ नहीं रही थी। उसी समय मेरी दशा देख कर एक मित्र ने मुझे सलाह दी कि अभी राजधानी से अधिक दूर तो हम आये नही हैं। चुपचाप यहाँ से तेज घोडे पर सवार होकर आप घर जाईये और मिलकर सूर्योदय से पूर्व यहाँ आ जाईये। किसी को मालूम भी नहीं होगा और आपका मन भी सन्तुष्ट रहेगा। इससे युद्धक्षेत्र में आप अधिक उमंग से लड सकेंगे और विजय आसान हो जायगी। मित्र की उस सलाह के अनुसार ही मैं अंजना से चुपचाप मिलने आया था माँ! निशानी के रूप में मैं अपनी अँगूठी भी उसकी उँगली में पहना गया था, जिससे कोई उसके चरित्र पर सन्देह न करे।"

माँः- "हाँ, उसने प्रमाण के रूप में तुम्हारे नाम से अंकित अँगूठी दिखाई जरूर थी; परन्तु मैंने समझा कि वह नकली अँगूठी अपनी इज्जत बचाने के लिए उसने बनवा ली होगी; इस प्रकार जब हमने उस पर विश्वास नहीं किया तो बह अपमानित होकर चली गई; कुछ दिनों बाद पता चला कि यहाँ से अंजना अपने पीहर गई थी; किन्तु माता-पिता ने भी उसे घर से निकाल दिया। अब पता नहीं, इस समय वह कहाँ है!"

कुमारः- "कहीं भी हो माँ! मैं आज ही इसी समय उसे खोजने के लिए निकल रहा हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक उसे खोज नहीं लूँगा, घर नहीं लौटूँगा।"

पवनंजय कुमार अंजना की खोज में निकल गये। सबसे पहले वे अपनी ससुराल के नगर में गये और वहाँ की सीमा पर बसने वाले नागरिकों से पूछा कि साल भर पहले गर्भवती अंजना यहाँ से चली गई थी - अकेली; सो याद करके बताईये कि वह किस दिशा में गई?

फिर नागरिकों के द्वारा प्रदर्शित दिशा में वे चल पडे। अनेक दुर्लंध्य पहाड, नदियाँ और पेडों से भरे घोर जंगलों की खाक छानते रहे; परन्तु अंजना का कहीं पता नहीं चला।

आखिर सब ओर से निराश होकर उन्होंने यह मान लिया कि शायद जंगल के हिंसक पशु उसे खा गये होंगे। अपनी प्रियतमा की दुर्दशा और मृत्यु के लिए वे स्वयं को दोषी मानकर उसका प्रायश्चित करना चाहते थे। इसके लिए वे पहाड के एक शिखर पर चढ जाते हैं और वहाँ से कूदकर अपने प्राणों की आहुति देना ही चाहते हैं कि उसी समय प्रतिसूर्य वहाँ आकर उनका हाथ पकड लेते हैं और सारे कुशल-समाचार उन्हें सुनाते हैं। फिर अपने साथ विमान में बिठाकर पवनंजय को अंजना और हनुमान् से मिलाते हैं। कुछ दिनों बाद तीनों को विमान में ही बिठाकर उनकी राजधानी में छोड आते हैं। सर्वत्र हर्षोल्लास छा जाता है। इस कथा से यह शिक्षा लेनी चाहिये कि संकटों में हम व्याकुल न हों।

मदन रेखा

महामुनि मणिचूड ने अपने ज्ञानचक्षु से जान लिया की विद्याधर मणिप्रभ जिस महिला को साथ लेकर यहाँ दर्शनार्थ आया है, वह महासती मदनरेखा है, जिसने घोर जंगल में प्रसूति के बाद अपनी साडी के एक हिस्से को फाड़कर उसकी झोली में नवजात शिशु को लिटा दिया था और झोली को एक पेड की शाखा से बाँधकर स्वयं स्नान के लिए सरोवर तट पर पहुँची थी। स्नान के बाद साडी पहनकर ज्यों ही यह लौट रही थी कि सहसा एक मदोन्मत्त हाथी ने सूँड़ में उठाकर इसे अपनी पूरी शक्ति से आकाश में उछाल दिया था। उसी समय इस विद्याधर ने अपने विमान में झेलकर इसके प्राण

बचाये; किन्तु इसके अनुपम सौन्दर्य पर यह इस समय आसक्त है और यहाँ से जाने के बाद अपने राजमहल में ले जाकर इसे रानी बनाने की सोच रहा है। फिर क्या था? महामुनि ने वैराग्यवर्धक उपदेश की ऐसी धारा बहाई कि विद्याधर मणिप्रभ की कामवासना शान्त हो गई। मणिप्रभ मदनरेखा को बहन की नजर से देखने लगा। इतना ही नहीं, मुनिराज से उसने परस्त्रीगमन के प्रत्याख्यान ले लिये।

प्रवचन समाप्त होने के बाद चार ज्ञान के धारक महामुनि मणिचूड से मदनरेखा ने अपने नवजात शिशु का वृत्तान्त पूछा। मुनिराज ने कहाः- "मिथिला नरेश महाराज पद्मरथ अपने घोडे पर सवार होकर उधर से निकले। नवजात शिशु को झोली में लिटाकर जानेवाली माँ कहीं आसपास ही होगी। ऐसा सोचकर उन्होंने खूब तलाश की; किन्तु जब माँ का पता नहीं लगा तो उसे उठाकर वे अपने राजमहल में ले गये। महाराज निःसन्तान थे। उन्होंने घोषित कर दिया कि रानी को गुप्तगर्भ था, जिसने पिछली रात जन्म लिया है। सारी मिथिला में इस समय पुत्र जन्मोत्सव मनाया जा रहा है। नमिराज उसका नाम रखा गया है और वह बडे प्रेम से राजमहल में पल रहा है। वह बहुत ही पुण्यशाली जीव है।" - चरमशरीरी है।"

यह सुनकर मदनरेखा बहुत सन्तुष्ट हुई। उसी समय एक महातेजस्वी देव वहाँ आया। उसने पहले मदनरेखा को प्रणाम किया और फिर महामुनि को। दर्शकों के मन में सहसा यह शंका हुई कि आगन्तुक देव ने पहले एक श्राविका को वन्दन क्यों किया।

बिना पूछे ही महामुनि ने इस शंका को जानकर कहाः- "भव्यात्माओ!

आपके मन में जो शंका उठ रही है, उसका समाधान तभी होगा, जब आप इस आगन्तुक देव के पूर्वभवका वृत्तान्त सुन लेंगे। यही देव पूर्वभव में इस सती पतिव्रता महिला का पति युगबाहु था। मालव प्रान्त के सुदर्शन नगर के राजा मणिरथ का यह छोटा भाई था। मणिरथ इस सती के सौन्दर्य पर आसक्त हो गया था। युगबाहु को मिलन में बाधक मान कर मणिरथ ने एक दिन विषबुझी तलवार से उस पर प्रहार कर दिया। युगबाहु मूर्छित होकर जमीनपर लुढक गया। मणिरथ घबराकर वहाँ से भाग निकला। युगबाहु के अंगरक्षकों ने उसका पीछा किया; परन्तु वह पकडा न जा सका। मदनरेखा ने देखा कि युगबाहु के प्राण अब कुछ ही मिनिटों के मेहमान हैं, तब इसके मस्तक को गोद में रख कर उचित उपचार द्वारा पहले मूर्च्छा दूर की और फिर गति सुधारने के लिए धार्मिक उपदेश दिया - अनित्य भावना, अशरण भावना, एकत्व भावना की धारा बहाकर पतिदेव की भावना को निर्मल बना दिया। फलस्वरूप देह छोडने के बाद इसे देवगति में ऐसा दिव्यरूप और अटूट वैभव प्राप्त हुआ। यदि मणिरथ के प्रति प्रतिकार की भावना से क्रोध की अवस्था में इसका प्राणान्त होता तो यह अवश्य नरक में जाता! देवगति में उत्पन्न होते ही इसने जान लिया कि नरक से बचाकर स्वर्ग में भेजने वाली परमोपकारिणी सहधर्मिणी मदनरेखा इस समय यहाँ है; अतः प्रत्युपकार के रूप में कुछ सेवा सहायता करना चाहिये। अपनी हार्दिक कृतज्ञता का परिचय देने के लिए ही इस देव ने पहले मदनरेखा को वन्दन किया था। यह इसे इस समय पत्नी नहीं, किन्तु धर्मोपदेशिका गुरुणी मानता है।"

फिर श्रोताओं में से एक ने पूछाः- "मणिरथ का क्या हाल हुआ?"

महामुनिः- "मणिरथ पकडे जाने के भय से जंगल में पैदल ही भागा जा रहा था। धीरे-धीरे अँधेरा हुआ। अँधेरे में एक काले साँप पर उसका पाँव पड़ गया। उसने मणिरथ के पाँव में ड़स लिया। ड़सते ही उसके सारे शरीर में जहर फैल गया। मणिरथ का जीव मरकर पाँचवी नरक में उत्पन्न हुआ है और अपने पापों का कुफल भोग रहा है।"

फिर एक अन्य श्रोता ने पूछाः- "जब मणिरथ और युगबाहु दोनों मर गये, तब सुदर्शन नगर का इस समय राजा कौन है?"

मणिचूड़ः- "युगबाहु का बडा पुत्र चन्द्रयश। वही इस समय राजसिंहासन पर आसीन होकर कुशलतापूर्वक उस नगर की प्रजा का पालन कर रहा है।"

एक जिज्ञासु ने पूछाः- "महासती मदनरेखा को जंगल में किसने भेजा?"

मणिचूड़ः- "युगबाहु की अन्त्येष्टि के बाद महासती को विरक्ति हो गई; परन्तु वह गर्भवती थी। पुत्र को जन्म देकर उसका पालन-पोषण करना वह अपना प्रथम कर्त्तव्य मानती थी। पति की मृत्यु के बाद पापी मणिरथ जेठ अधिक सता सकता था; अतः भवन की अपेक्षा वन में निवास करना ही इसे श्रेयस्कर लगा। फलस्वरूप यह चुपचाप जंगल में जा पहुँची। वहीं इसकी प्रसूति हुई। प्रसूति के बाद बच्चे को झोली में लिटाकर यह सरोवर में स्नान करने गई। स्नान करके वस्त्र धारण करने के बाद एक वनगज ने इसे सूँड से उठाकर आसमान में उछाल दिया। उसी समय विद्याधर मणिप्रभ ने इसके शरीर को विमान में झेल लिया था। फिर मदनरेखा के आग्रह से विमान को अपने अन्तःपुर में ले जाने से पहले इसके द्वारा

यहाँ लाया गया, जिससे ये दोनों दर्शन-वन्दन का लाभ उठा सकें।"

इस वृत्तान्त को सुनकर श्रोता अपने-अपने घरों को चले गये। देव ने सती से अनुरोध किया कि मुझे किसी भी तरह की सेवा का अवसर दिया जाय, सती ने कहा कि मैं प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ; अतः आप मुझे महासती सुव्रताजी के समीप ले चलिये। देव विमान में बिठाकर महासती सुव्रताजी के निकट सती मदनरेखा को ले गया। मदनरेखा ने उन्हें वन्दन कर के उनसे पंच महाव्रत ग्रहण कर लिये। इस प्रकार साध्वी जीवन अंगीकर करने के बाद महासती सुव्रताजी के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करती हुई वह तपस्या के द्वारा कर्मनिर्जरा करने लगी।

बीस-पच्चीस वर्ष बीतने पर महाराज पद्मरथ भी नमिराज को सिंहासन सौंपकर आत्मकल्याण की साधना में लग गये। इस प्रकार महाराज नमि मिथिला के नरेश बन गये।

एक दिन विशालकर्ण नामक उनका प्रिय हाथी मदोन्मत्त होकर भाग निकला। मार्ग में आने वाले अनेक वृक्षों को सूँड़ से उखाड कर आसमान में उछालता हुआ विशालकर्ण मालवदेश की सीमा पर जा पहुँचा। वहाँ गाँवों में ऊधम मचाने लगा। गरीबों की झोपड़ियों को गिराने लगा। उसकी भयंकर चिग्घाड से स्त्री-पुरुष-वृद्ध-बालक सभी थर थर काँपने लगे।

यह स्थिति देखकर गाँवों के सरपंच सुदर्शन नगर के राजमहल में पहुँचे और महाराज चन्द्रयश से प्रार्थना करने लगे कि वे उस हाथी से प्रजा की रक्षा करें।

महाराज चन्द्रयश ने तत्काल गजविद्या में कुशल कुछ सैनिकों को भेज दिया। सैनिक मालवदेश की सीमापर जाकर विशालकर्ण को पकड लाये और महाराज चन्द्रयश के आदेशानुसार उसे गजशाला में बाँध दिया। यहाँ भी अपने गुणों के कारण महाराज चन्द्रयश का वह प्रेमपात्र बन गया।

उधर से ज्यों ही नमिराज को ज्ञात हुआ, त्यों ही उन्होंने राजदूत के साथ यह सन्देश सुदर्शन नगर में भिजवाया कि विशालकर्ण हमारा है; उसे शीघ्र हमें सौंप दें अथवा युद्ध के लिए तैयार रहें।

सच्चे क्षत्रिय युद्ध की धमकियों से नहीं डरते। चन्द्रयश ने चुनौती स्वीकार कर ली। युद्धक्षेत्र में दोनों ओर से सेनाएँ आ डटीं।

मदनरेखा को जब मालूम हुआ कि एक हाथी के पीछे घोर युद्ध सहोदर भाइयों में छिड़ने वाला है, तब वह तत्काल एक अन्य साध्वी को साथ लेकर युद्धक्षेत्र में पहुँची। दोनों को एक-दूसरे का परिचय कराया। इससे वैर प्रेम में बदल गया। दोनों भाईयों का भरतमिलाप देख कर सबकी आँखें हर्षाश्रु से भीग गई। दोनों सेनाएँ महासती मदनरेखा की जय जयकार करके अपनी-अपनी राजधानियों को लौट गईं। महासती मदनरेखा की कृपा से आज बिना युद्ध किये ही दोनों राजाओं की विजय हो गई थी!

मैनासुन्दरी

उज्जयिनी नरेश प्रजापाल ने भरी सभा में अपनी दोनों पुत्रियों से एक प्रश्न कियाः- "सुख पिता से मिलता है या पुण्य से?"

एक पुत्री सुरसुन्दरी ने कहाः- "पिता से" दूसरी मैनासुन्दरी ने कहाः- "पुण्य से।"

प्रसन्न पिता ने सुरसुन्दरी का विवाह शंखपुरनरेश अरिदमन से कर दिया; किन्तु मैनासुन्दरी के उत्तर से अप्रसन्न होकर उसका विवाह श्रीपाल नामक एक कोढ़ी से किया।

नवपद की विधिपूर्वक आराधना से कोढ़ मिटने के बाद धर्मस्थान से राजमहल की ओर जाते समय माँ कमलप्रभा के दर्शन हुए। श्रीपाल ने चरण छूकर कहाः- "मैना! यह तुम्हारी सास है। प्रणाम करो।"

मैना प्रणाम करके बहुत खुश हुई। तीनों राजमहल में गये। प्रजापाल ने कमलप्रभा का स्वागत किया और पूछने पर अपना पिछला वृत्तान्त इस प्रकार सुनायाः- "हे राजन्! मैं चम्पानरेश सिंहरथ की रानी हूँ। श्रीपाल मेरा पुत्र है। जब यह पाँच वर्ष का था तब इसके पिता चल बसे। राज्य हड़पने के लिए इसके काका वीरदमन इसे जान से मार डालना चाहते हैं -ऐसी भनक पडते ही मैं इसके प्राण बचाने के लिए इसे लेकर जंगल में भाग गई। वहाँ सात सौ कोढ़ियों के एक दल को देखा। श्रीपाल को सुरक्षा के लिए मैंने दल के साथ भेज दिया और मैं कोढ़के इलाज की दवा ढूँढने चल पडी। वर्षों बाद आज अकस्मात् इसे अपनी सह धर्मिणी के साथ देखा और इन दोनों के अनुरोध से राजमहल में चली आई।"

राजा ने राजमहल के एक सुन्दर कक्ष में तीनों को ठहराया। वे सानन्द रहने लगे। एक दिन श्रीपाल ने नगर में पर्यटन

करते समय किसी प्रजाजन को यह कहते हुए सुना कि ये प्रजापाल के जमाई हैं। यह बात चुभ गई; क्यों कि नीतिकारों ने कहा हैः-

उत्तमाः स्वगुणैः ख्याताः,

मध्यमास्तु पितुर्गुणैः।

अधमाः मातुलैः ख्याताः,

श्वशुरैरधमाधमाः।।

(उत्तम अपने ही गुणों से विख्यात होते हैं; मध्यम पिता के गुणों से, नीच मामा के गुणों से और नीचतम व्यक्ति ससुर के नाम से जाने जाते हैं)

फल यह हुआ कि अपने गुणों से ख्याति अर्जित करने के लिए बारह वर्ष आठ दिन के बाद निश्चित रूप से लौट आने का वचन माता और पत्नी को देकर श्रीपालजी चल पड़े।

वचन के अनुसार बारह वर्ष और सात दिन की अवधि पूरी होने पर रात को गुप्त रूप से राजमहल में पहुँचकर श्रीपाल अपनी माता और मैना को नगरी से बाहर ले गये। वहाँ अपने डेरे पर ले जाकर उन्होंने अपना संपूर्ण वृत्तान्त संक्षेप में दोनों को इस प्रकार सुनायाः-

"जंगल में भ्रमण करते हुए, एक विद्याधर की विद्यासिद्धि में सहायक बनने के कारण प्रसन्न होकर मुझे उसने दो विद्याएँ सिखा दीं - जलतारिणी और शस्त्रनिवारिणी।

आगे बढने पर एक योगी को मेरी उपस्थिति से स्वर्णसिद्धि में सहायता मिल गई। उसने भी अत्यन्त आग्रह के साथ मुझे थोडा-सा स्वर्ण भेंट किया।

वहाँ से चलकर भडौंच नगरके बाहर एक उद्यान में विश्राम करने बैठा तो मुझे नींद आ गई। लोगों का शोरगुल सुनकर मैंने आँखें खोली तो अपने को सैनिकों से घिरा पाया। पूछने पर पता चला कि धवल सेठ के अटके हुए पाँच सौ जहाजों को चलाने के लिए वे मेरी बलि देना चाहते हैं। मैंने सेठजी के पास पहुँच कर कहा कि किसी पुरुष की हत्या से न कभी कोई जहाज चला है और न चलेगा। यह एक भयंकर अन्धविश्वास है। मैं बिना हत्या किये ही आपके सारे जहाज चला सकता हूँ।

फिर नवपद का स्मरण करते हुए मैंने एक-एक जहाज को छुआ कि वह तत्काल चल पडा। सेठजी के साथ जहाज में दूर-दूर तक पर्यटन का अवसर मिलेगा - ऐसा सोचकर सौ स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिमास के किराये पर जहाज में मैंने स्थान ले लिया। इस प्रकार मेरी समुद्री यात्रा प्रारंभ हुई।

बर्बरदेश में पहुँचे। वहाँ महसूल न चुकाने के अपराध में धवलसेठ पकडा गया। सेठजी को नीतिकारों का यह वाक्य याद आ गयाः-

"सर्वनाशे समुत्पन्ने

अर्धं त्यजति पण्डितः।।"

(सर्वनाश के अवसर पर जो आधेका त्याग कर देता है, वही पंडित है)

बोलेः- "श्रीपालजी! कृपा करके मुझे छुडा लीजिये। माल से भरी हुई आधी जहाजें मैं आपको भेंट कर दूँगा।"

मैंने शस्त्रनिवारिणी विद्या का उपयोग करके युद्ध में महाकाल की सेना पर विजय प्राप्त की और सेठजी को मुक्त कराया। महाकाल ने मदनसेना नामक अपनी कन्या से मेरा विवाह कर दिया। बिदाई के समय एक नर्त्तकी और सतमंजिली एक जहाज भेंट की। सेठजी से भी ढाई सौ जहाजें मिल गईं। एक दिन सेठजी किराया माँगने आये तो उनके हिसाब से जितना होता था, उससे दस गुना किराया मैंने दे दिया। उसके बाद तो बिना माँगे ही प्रतिमास दस-दस गुना किराया उन्हें देता रहा।

मार्ग में रत्नद्वीप आया। वहाँ रत्नसंचय नगर के राजा कनककेतु का हाथी मदोन्मत्त होकर तोड़ फोड़ करने लगा। उसे वश में करने पर प्रसन्न होकर राजा ने राजकुमारी रत्नमंजूषा से मेरा विवाह कर दिया। वहाँ भी टेक्स चोरी के अपराध में पकड़े गये सेठजी को मैंने छुडाया।

कुछ दिनों बाद वहाँ से बिदा होकर आगे बढे। सेठजी सोचने लगे कि यदि किसी तरह वे मुझे समुद्र में डुबो दें तो ढाई सौ जहाजों पर फिर से अधिकार मिल जाय। साथ ही सतमंजिला जहाज और दोनों सुन्दरीयाँ भी प्राप्त हो जायँ।

अपने कुविचार को शीघ्र ही उन्होंने कार्यरूप में परिणत किया।

सूतली का कच्चा मचान बनवा कर मुझे उस पर बिठा दिया और फिर मित्रों की सहायता से रस्सी कटवाकर मुझे समुद्र में गिरा दिया। जलतारिणी विद्या के बल पर मैं कुंकुम देश जा पहुँचा। वहाँ ठाणा नगरी के राजा वसुपाल ने राजपुत्री गुणमाला से मेरा विवाह कर दिया। मैं वहाँ सानन्द रहने लगा।

कुछ दिनों बाद सेठजी भी वहाँ आये। मुझे सकुशल देखकर चौंके। एक लाख रुपयों के पुरस्कार का प्रलोभन देकर भाँड़ो की एक मंडली को तैयार किया, जिससे वह मुझे राजा की नजरों से गिराने का प्रयास करे। मंडली को अभिनय में सफलता मिली। राजा ने मुझे भाँड़ों का रिश्तेदार समझा; परन्तु शीघ्र ही उनका यह भ्रम मिट गया; क्योंकि झूठ के पाँव नहीं होते। मेरे कहने पर जब सतमंजिले जहाज की तलाशी ली गई तो मदनसेना और रत्नमंजूषा - इन दोनों ने मेरे पक्ष में गवाही दी। राजा ने क्रुद्ध होकर सेठजी को पकड लिया; किन्तु मेरे कहने से छोड दिया। यही नहीं, उनका आतिथ्य सत्कार भी किया। मैं तीनों रानियों के साथ राजमहल में सानन्द रहने लगा। हालचाल पूछने पर एक दिन मदनसेना ने बताया कि सेठजी के हृदय में काम, क्रोध और लोभ - इन तीन भूतों का निवास है। हम दोनों अनाथ अबलाओं का शील भंग करने के लिए वे हाथ में तलवार लेकर हमारे जहाज में रात को मिलने आये। नवपद का स्मरण करके हम समुद्र में कूदने ही वाली थीं कि सहसा सिंहवाहिनी चक्रेश्वरी देवी प्रकट हुई। सेठजी ने क्षमा माँगी और पलायन कर गये। देवी ने एक-एक पुष्पमाला दोनों को दी और कहा कि इन मालाओं के प्रभाव से शीलरक्षा होगी और आश्वासन दिया कि एक मास की अवधि में पतिदेव से मिलाप हो जायगा। देवी अदृश्य हो गई। फिर कुछ दिनों बाद कामज्वर प्रबल होने पर सेठजी नारी का वेष पहनकर मिलने आये; परन्तु पुष्पहार के प्रभाव से हम पुरुषरूप में दिखाई दीं। सेठजी डरकर भाग गयें। फिर इस द्वीप में आने पर आपके दर्शन हुए। मैंने भी अपना वृत्तान्त उन्हें सुनाया। प्रातःकाल उठने पर पता चला कि सेठजी स्वयं अपनी ही तलवार से कटे पडे हैं। मेरी हत्या करने के लिए नंगी तलवार लेकर वे रस्सी के सहारे दीवार पर चढने का प्रयास कर रहे थे; परन्तु तलवार हाथ से छूट गई और रस्सी टूटने से वे अपनी ही तलवार पर गिर कर कट मरे। उनकी अन्त्येष्टि के बाद कौशाम्बीनगर में सन्देश भेज कर धवलसेठ के पुत्र नवलसेठ को वहाँ बुलवाया और उन्हें समस्त पाँच सौ जहाजें सौंपकर विदा किया।

कुछ दिनों बाद सुनने में आया कि किसी राजा की कन्या गुणसुन्दरी ने प्रतिज्ञा की है कि जो संगीतज्ञ मुझसे अच्छी वीणा बजायेगा, उसी से मैं विवाह करूँगी। कुतूहलवश कुबड़े की आकृति में मैं वहाँ जा पहुँचा। वीणा बजाने की कला से सब को मुग्ध कर दिया। कन्या ने वरमाला मेरे गले में डाल दी। लोगों का सन्देह मिटाने के लिए मैं असली रूपमें प्रकट हुआ। राजा ने धूम धामसे विवाह कर दिया।

फिर कंचनपुर के स्वयंवर में जाकर राजा वज्रसेन की कन्या तिलोकसुन्दरी से विवाह किया। वहीं किसी आगन्तुक से सुना कि दलपत शहर के राजा धरापाल की कन्या शृंगारसुन्दरी और उसकी पंडिता, विचक्षणा, निपुणा, दक्षा और प्रगुणा इन पाँच सखियों ने प्रतिज्ञा की है कि स्वयंवर सभा में जो हमारी समस्याओं की पूर्ति करेगा, उसी युवक से हम विवाह करेंगी। मैं गया और अभीष्ट समस्यापूर्त्ति के द्वारा सबको सन्तुष्ट करके उन छहों से विवाह कर लिया।

उसके बाद राधावेध के द्वारा सन्तुष्ट होकर कोलागपुर नरेश पुरन्दर ने अपनी पुत्री जयसुन्दरी से मेरा विवाह कर दिया। फिर मुझे आप दोनों की याद आई; इसलिए आगे न बढकर लौट आया। मार्ग में सुपार्श्वनगर के राजा महासेन की राजकुमारी तिलकसुन्दरी सर्प दंश से मूर्छित हो गई थी। नवपद का स्मरण करके उसे मूर्छा से मुक्त किया तो राजा ने मेरे साथ उसका विवाह कर दिया। इस प्रकार यह विशाल सेना, ऋद्धि समृद्धि और ये समस्त पत्नियाँ आपकी प्रथम पुत्रवधू मैनासुन्दरी से प्राप्त नवपद-भक्ति का ही सुफल है।"

बात ही बात में रात बीत गई। राजा प्रजापाल ने अभिनन्दन के साथ सबको नगर में प्रवेश कराया। कुछ दिनों बाद श्रीपालजी ने काका वीरदमन से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया।

सुविचार

अग्नि से स्वर्ण शुद्धि के समान तपस्यासे आत्मशुद्धि होती है।

दूध ठंडा हो तभी खटाई से दही बनता है; उसी प्रकार दिमाग शान्त हो तभी चिन्तन से समस्याओं का समाधान मिलता है।

प्रेम वह "मास्टर की" है, जिससे किसी भी आत्मा का ताला खुल सकता है।

इच्छा का अभाव ही संयम है, जो उच्च धार्मिक जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकता है।

जिस ह्रदय में क्षमा होती है, उसी में परमात्मा निवास करते हैं।

चेहरे के रूप को दर्पण बताता है तो आत्मा के रूप को आगम।

माता-पिता तीर्थ के समान हैं; इसलिए जो माता-पिता के प्रति वफादार है, वही प्रभु के प्रति वफादार हो सकता है।

विकास के साथ ज्ञान का प्रकाश आने पर पूर्णता का वह पथ दिखेगा, जिससे परमात्म पद प्राप्त हो सके।

स्वयं को स्वयं ढूँढने पर विकास होगा।

प्रभु की वाणी पर श्रद्धा हो, प्रतीति हो, रुचि हो तभी स्पर्श (आचरण) होगा।

सुने हुए सुविचारों को मेंहदी की तरह घोंटते रहने (मनन करते रहने) पर वैराग्य का रंग गहरायेगा और दुःख लुप्त होता जायगा।

जीवन का अर्थ (प्रयोजन या ध्येय) समझ में आ जाय तो मूर्च्छा चली जाय।

लोग कहते हैं - "महाराज! माला फिराते समय मन भटकता है" किन्तु कोई ऐसा नहीं कहता कि- "नोटों पर हाथ फिराते समय (नोट गिनते समय) मन भटकता है।"

चिन्तन की गहराई में उतरने से वीतरागता सहज प्राप्त हो सकती है।

भौतिक विज्ञान विश्वविनाशक है; किन्तु आध्यात्मिक विज्ञान विश्वविकासक है।

जीवन का प्रत्येक पल मृत्यु की दिशा में ले जा रहा है।

बाहर से इतना सारा दिल-दिमाग में भर दिया गया है कि वहाँ और कुछ (आत्मज्ञान) भरा ही नहीं जा सकता अर्थात् स्वयं ही स्वयं को खोजने की मनःकामना उत्पन्न नहीं की जा सकती।

सिद्धान्तों का सब से बडा प्रचारक हमारा आचरण है- सब से सरल ग्रन्थ संसार है - सबसे विश्वसनीय मित्र परमात्मा है और सबसे बडा दुःख है - असन्तोष।

ज्ञान और संयम ये दोनों जीवनरथ के वे पहिये हैं, जो परमपद तक पहुँचा सकते हैं।

वाणी का विवेक और व्यवहार की शुद्धि जीवनविकास के लिए आवश्यक है।

किसी की प्रशंसा करना हो तो पाँच मिनिट में जीभ रुक जाती है; परन्तु यदि निन्दा करना हो तो बिना रुके जीभ घंटों चलती रहती है - जरा भी नहीं थकती!

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्रतीक अक्षत की तीन ढेरियों पर एक सौ आठ अक्षतों से अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला बनाई जाती है, जो पंचपरमेष्टिके एक सौ आठ गुणों की स्मारिका है।

अशुभ विचारों को निर्वासित कर शुभ विचारों को प्रवेश देने से जीवन सन्तुलित रहता है।

आज सर्वत्र जिस अनुपात में पुद्गलों (रुपयों) का उन्मूल्यन हुआ है, उसी अनुपात में मानवता का अवमूल्यन हो गया है।

अज्ञान से कायरता, कायरता से भय और भय से दुःख होता है।

भावी जीवन की भव्यता वर्त्तमान जीवन की भव्यता पर निर्भर है।

ह्रदय की गहराई में ज्यों-ज्यों उतरते जायँगे, त्यों-त्यों आत्माका वास्तविक निर्मल स्वरूप दिखाई देने लगेगा।

सुदेव, सुगुरु और सुधर्म से यदि मोक्ष जैसा सर्वोत्तम पद मिल सकता है तो फिर संसार में क्या नहीं मिल सकता?

नाक श्वासोच्छ्वास के लिए मिला है; उसकी क्षणिक तृप्ति के लिए पुष्पों के प्राण लेना अनुचित है।

ट्रेन के डिब्बे में जब कोई नया यात्री घुसता है तो पहले लोग उसका विरोध करते हैं; किन्तु बाद में उससे मित्रता कर लेते हैं! क्या वह मित्रता पहले नहीं की जा सकती?

सच्ची और मीठी बोली से, दया-दान से संयम (इन्द्रियों के और मन के निग्रह) से तथा सज्जनों का सम्मान करने से कोई भी व्यक्ति प्रसन्नता पा सकता है।

"अहम्" को "अर्हम्" बनाने के लिए आवश्यक है - परमात्मा का निरन्तर ध्यान।

शुद्धि और सरलता से ही ऐसी योग्यता प्राप्त होती है, जिससे आकृष्ट होकर मुक्तिरमणी जीव को वरमाला पहिनाती है।

ज्ञान और अनुभव का अभाव ही जीव को इच्छाओं का गुलाम बनाता है।

ज्ञान से जो इन्द्रियाँ आत्मा को मोक्ष दिला सकती हैं, विषयासक्ति से वे ही नरक भी दिला सकती हैं।

हजारों नदियों के मिलने पर भी समुद्र नहीं भरता; उसी प्रकार हजारों इच्छाएँ पूर्ण करने पर भी मन नहीं भरता।

जैसे जैसे आत्मा गुणस्थानों पर चढती जाती है, वैसे वैसे मोहराज का जोर बढता जाता है और अनुकूल प्रलोभन उसे आकर्षित करने के लिए उठ खड़ें होते हैं।

मदनरेखा ने मणिरथ को समझाया:- "शिष्ट कभी उच्छिष्ट नहीं खाते!"

आयुष्य अल्प है, मृत्यु का ठिकाना नहीं; अतः कल का काम आज और आज का काम अभी (इसी समय) कर लेना ही समझदारी है।

यदि इस भव की भव्यता (मानव जीवन की महत्ता) समझ में नहीं आई तो आत्मा को दिव्यता कैसे प्राप्त होगी?

साधर्मिक वात्सल्य से त्याग और प्रेम की भावना पुष्ट होती है।

जगत् के लिए अर्थ और काम हैं; किन्तु जीवन के लिए धर्म और मोक्ष हैं।

जिनवाणी हृदय को उसी प्रकार स्वच्छ करती है, जिस प्रकार वस्त्रों को साबुन या बर्त्तनों को राख अथवा इमली।

यदि जीवन का लक्ष्य निर्धारित न हो तो संकट के समय वह ठाम (स्थान) छोड देता है, दाम (धन) खो बैठता है और हाम (हिम्मत) हार जाता है।

दूध स्थिर हो तभी दही जमता है; उसी प्रकार मन स्थिर हो तभी उसमें विद्या जमती है।

ज्ञान के बिना धार्मिक क्रियाएँ नीरस (शुष्क) होती हैं।

थके हुए को लेटना पड़ता है - बडबडानेवाले को मौन रहना पडता है! इससे सिद्ध होता है कि शक्ति का उद्‌गम शान्ति है, तूफ़ान नहीं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मानवता को समर्पित जैन जगत की शान
महान राष्ट्रसंत जैनाचार्य श्री पद्मसागरसूरि जी म. सा.

बालक प्रेमचन्द से आचार्य श्री पद्मसागरसूरि तक की सफल यात्रा जैनाचार्यों की गरिमापूर्ण अर्वाचीन परम्परा में एक यशस्वी नाम हैः आचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज का व्यवहार कौशल्य, वाक्पटुता, स्वाभाविक सहजता, निर्भीक अभिव्यक्ति, कर्तव्य परायणता, अनुशासनप्रियता, अद्‌भूत, साहसिकता, नेतृत्व-सक्षमता इत्यादि अनेकानेक सद्‌गुणों से निखरता आपका जीवन जनसामान्य के लिये आदर्श और वरदान है तो मानवता व साधुता के लिए सुखद संवाद. महान आदर्शों के ठोस धरातल पर निर्मित हुआ आपका प्रतिभासम्पन्न व बहुमुखी व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही संघर्षशील रहा है, ध्येय के प्रति अपार निष्ठा और सद्विचारों के लिये समर्पित आपका जीवन स्वतः में एक उपलब्धि है.

जन्म और बाल्यकाल : बांगलादेश की सीमा पर स्थित तत्कालीन मुर्शिदाबाद स्टेट अजिमगंज नगर में १० सितम्बर १९३५ के शुभ दिन **प्रेमचन्द** के नाम से एक ऐसी विरल आत्मा ने जन्म लिया, जिसने सावधानी पूर्वक समय के साथ कदम बढ़ाकर राष्ट्रसंत महान् जैनाचार्य श्रीमत् पद्मसागरजीसूरीश्वरजी महाराज के बहुश्रुत नाम से अपने जीवन को आशातीत सार्थकता व अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की. जन्म से तीन माह पूर्व ही पिता श्री रामस्वरूप सिंह जी की छाया को खो चुके बालक प्रेमचन्द का पालन-पोषण माता श्रीमती भवानीदेवी ने कुशलता के साथ सम्पन्न की. बालक की तेजस्वी मुखमुद्रा, सौम्य प्रकृति तथा चमकीली आँखों से उनके उज्ज्वल भविष्य का अनुमान तो प्रारम्भ से ही सभी को हो गया था. लब्धिचन्द के लुभावने नाम से परिचितों में प्रिय बने प्रेमचन्द ने शुरु से ही माता के बताए आदर्श जीवन-सूत्रों को बराबर ग्रहण कर लिया. निर्भीकता और सन्मार्ग पर निरन्तर संघर्ष जीवन के ये दोनों बहुमूल्य सूत्र, जो जन्म के साथ ही प्रेमचन्द को माता से विरासत में मिले थे, आज तक आचार्य पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज की सफल जीवन-यात्रा में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं.

शिक्षा और संस्कार : माँ के दिशा-निर्देशन में आगे बढ़े होनहार प्रेमचन्द छः वर्ष की आयु में ही ज्ञानार्जन के लिए अजीमगंज के श्री रायबहादुर बुधसिंह प्राथमिक विद्यालय में दाखिल किये गए. अध्ययन के प्रति अपार लगन, अथक परिश्रम और अद्भुत स्मरण-शक्ति ने प्रेमचन्द का नाम विद्यालय के होनहार विद्यार्थियों में दर्ज करा दिया. तन्दुरुस्त काया, निरन्तर निखरती प्रतिभा, सतत् उद्यमशीलता इत्यादि ने प्रेमचन्द की विकास-यात्रा को अनोखा रूप दिया. लब्धप्रतिष्ठ जमींदार श्री निर्मलकुमारसिंहजी नवलखा के यहां पारिवारिक स्वजन की भाँति संपर्क होने से प्रेमचन्द की जीवन शैली प्रारम्भ से ही एक बड़े घराने की उच्च परम्पराओं के अनुरूप निर्मित हुई. अजीमगंज उस जमाने में यतियों का केन्द्र था. नवलखा परिवार में यति श्री मोतीचन्दजी का नियमित रूप से आना-जाना रहता था. परिणामतः प्रारम्भ से ही प्रेमचन्द में सुसंस्कारों का सिंचन हुआ, जैन इतिहास और अध्यात्म की बातें सुनने को मिली. निर्मल-निर्दोष बाल-मन आध्यात्मिक जीवन धारा का अनुरागी बन गया . फिर यह प्रवाह अबाधित जारी ही रहा आखिरकार एक दिन अन्तःकरण की उर्वर भूमि पर शैशव में हुए अध्यात्म के बीज वपन से ही प्रेमचन्द के जीवन में प्रव्रज्या के अंकुर फूटे.

तेरह वर्ष तक मातृभूमि की पवित्र धूल में पलते-बढ़ते प्रेमचन्द छठी कक्षा तक की पढ़ाई सम्पन्न कर आगे के अध्ययन के लिए शिवपुरी के सुविख्यात श्री वीर तत्व प्रकाशक मण्डल द्वारा संयोजित जैन विद्यालय में प्रविष्ट हुए. अध्ययन के इस महत्त्वपूर्ण दौर में उन्हें मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज का पावन सान्निध्य व समागम मिला. मुनिश्री के विशेष प्रयत्नों के बदौलत ही इस संस्थान में प्रेमचन्द की बौद्धिक प्रतिभा का अभूतपूर्व विकास हुआ. केवल दो वर्षो के इस छोटे से अध्ययनकाल में प्रेमचन्द ने अनेक सफलताएं अर्जित की. मुनिश्री की अनूठी व आकर्षक प्रवचन-शैली से प्रेरित होकर आपने छोटे-छोटे भाषण देने भी यहीं सीखे. भाषणों की क्रमिक प्रगतिशील प्रक्रिया ने ही एक दिन प्रेमचन्द को जैन शासन का प्रखर प्रवक्ता बनाया और समाज ने उन्हें प्रवचन प्रभाकर का बिरुद दिया है. ईसवी सन् १९५० तक यहाँ पर रहने के बाद प्रेमचन्द ने कलकत्ता में एक रिश्तेदार के घर में रहते हुए श्री विशुद्धानन्द सरस्वती उच्च माध्यमिक विद्यालय में नौवीं व दसवीं कक्षा की शिक्षा पूरी की. इसके बाद आध्यात्मिक गतिविधियों की ओर निरन्तर प्रेरित करते मन ने आपको व्यावहारिक अध्ययन में आगे बढ़ने नहीं दिया.

भारत भ्रमण : ईसवी सन् १९५२ के अन्त में प्रेमचन्द कलकत्ता से पुनः अजीमगंज चले आए. यहाँ आकर स्वामी विवेकानन्द के विचारों ने भी उन्हें उत्साहित किया. फिर शीघ्र ही वे भारत के प्रमुख ऐतिहासिक नगरों की यात्रा पर

निकल पड़े. आपने पाण्डिचेरी, देहरादून, हरिद्वार, ऋषिकेश, मथुरा, दिल्ली, आगरा, कोटा, ग्वालियर इत्यादि नगरों के अनेक ऐतिहासिक स्थलों, आश्रमों, धार्मिक-आध्यात्मिक संस्थानों को निकट से देखा परखा.

जीवन-शिल्पी की खोज : परिभ्रमण के दौरान प्रेमचन्द पालीताणा महातीर्थ के यात्रार्थ अहमदाबाद भी आए. निकटवर्ती ग्राम साणंद में विराजित परम श्रद्धेय, शासन-प्रभावक, सिद्धांतवेत्ता, युगद्रष्टा, महान संयमी, अजातशत्रु आचार्यदेव श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब के दर्शनार्थ गए. प्रेमचन्द के जीवन इतिहास में यह दिन स्वर्णिम अध्याय के रूप में अंकित हुआ. आचार्यश्री को पाकर जीवन में पहली बार आपको जिज्ञासाओं और समस्याओं का सम्यक् समाधान मिला. आचार्य श्री की दिव्यवाणी ने प्रेमचन्द की मनोभूमि पर वैराग्य का सिंचन किया. नयनों ने देखा, कानों ने सुना और अन्तर हृदय ने स्वीकार कर लिया. आचार्यश्री का परम सान्निध्य और वात्सल्यपूर्ण मार्गदर्शन आपके यात्रा पथ का महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ. मन ही मन आचार्य श्री के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण करने का शुभ संकल्प कर प्रेमचन्द अपने सहपाठी मित्र के साथ ही अहमदाबाद चले आए.

घर का परित्याग : वीतराग का पथ वीरों का पथ है. बुजदिलों का यहाँ काम नहीं. आचार्य भगवन्त के असरकारक शब्द प्रेमचंद के कानों में गूँज रहे थे- *संसार में आसक्त व्यक्ति के लिये संयम काँटों की डगर है. साधक तो कांटो को फूल समझते है. बिना कष्ट के इष्ट की प्राप्ति नहीं होती. सहन करने वाला ही अन्ततः सिद्ध बनेगा.* वे मित्र से अनुमति लेकर अजीमगंज के लिये चल पड़े. वापस आकर कुछ आवश्यक व्यावहारिक कार्यों को निपटाकर प्रेमचन्द ने संयम ग्रहण करने की अपनी तमन्ना अजीमगंज के अपने एक निकटतम मित्र के सामने अभिव्यक्त की. एकाएक एक दिन प्रातः माँ को प्रणाम कर घर से निकल पड़े. जेब में कुछ रुपयों के अलावा हाथ खाली थे पर जीवन को संयम की सुरभि से महकाने की अहोभावना और पूर्ण विश्वास था.

वीतराग के पथ पर : गृहत्याग के बाद प्रेमचन्द दीपावली के दिन अहमदाबाद पहुँचे. उस दिन अपने सहपाठी

मित्र के यहाँ रहकर नूतन वर्ष की सुप्रभात में आप साणंद में अपने जीवन निर्माता आचार्यदेव श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म.सा. के पास पहुँचे. नूतन वर्ष के मांगलिक-श्रवण के बाद प्रेमचन्द ने आचार्य श्री के समक्ष अपनी अभिलाषा सविनय व्यक्त की. प्रेमचन्द की भावनाओं का आदर करते हुए आचार्यश्री ने उनको कुछ दिन अपने साथ रहने का सुझाव दिया. आचार्यश्री के सान्निध्य में प्रेमचन्द श्रमण जीवन के आचार-विचारों का लगन से अभ्यास करने लगे. आगे का धार्मिक-तात्त्विक अध्ययन भी आपने प्रारम्भ कर दिया. प्रेमचन्द का वैराग्य-वासित जीवन देखकर आचार्यश्री ने एक दिन संघ के पदाधिकारियों के समक्ष दीक्षा-महोत्सव के आयोजन का प्रस्ताव रखा. साणंद का संघ, जैसे इस महोत्सव की प्रतीक्षा में ही था, ईसवी-सन् १९५५ के १३ नवम्बर की सुप्रभात हुई. साणंद आज एक महान ऐतिहासिक घटना का साक्षी बनने को तत्पर था. संयम के गीत गाये जाने लगे. शहनाइयों के सुर बजे. प्रेमचन्द राजकुमार की भाँति सजे. जहाँ देखो वहाँ मात्र वीतराग के बतलाए अनूठे संयम-मार्ग की भावभीनी अनुमोदना के सुहावने स्वर थे. शुभ घड़ी में आचार्यश्री ने मुमुक्षु प्रेमचन्द को रजोहरण अर्पित किया. मुण्डन के बाद उज्ज्वल-धवल वस्त्रों में संयम की भव्यता को समेटे मुमुक्षु प्रेमचन्द मुनि पद्मसागरजी महाराज के रूप में श्रद्धासम्पन्न लोगों के दिलो दिमाग पर छा गया. श्रमण जीवन में आपको आचार्य देव श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. के विद्वान शिष्य आचार्य प्रवर श्री कल्याणसागरसूरीश्वरजी महाराज का महान शिष्यत्व मिला.

अध्ययन ही एक लगन : दीक्षा अंगीकार करने के बाद मुनि पद्मसागरजी श्रमण-जीव को भीतर व बाहर से संवारने तथा आखिरकार उसे सार्थक बनाने के लिए समग्रता से लग गये. आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी के कुशल व सफल सान्निध्य में मुनि पद्मसागरजी ने अध्ययन के साथ-साथ साधु जीवन की आचार-मर्यादाओं को देखा, समझा और भलीभाँति उनका परिपालन किया. मुनिजीवन के स्वल्प समय में ही पद्मसागरजी ने अपनी विरल प्रतिभा का परिचय दिया. कुशाग्र बुद्धि, तीव्र स्मरण-शक्ति और प्रखर प्रतिभा के धनी मुनि पद्मसागरजी केवल विद्या के क्षेत्र में ही नहीं, आध्यात्मिक जगत में भी तेजी से आगे बढ़े. धैर्य, समन्वय, मैत्री, करुणा, समता इत्यादि जीवन उन्नायक गुणों को भी आपने आत्मसात् कर लिया. विशेष कर अपने श्रद्धेय दादागुरु के प्रति आपका अद्‌भुत समर्पण-भाव रहा.

सहन करने की भावना : महानता ऐसे ही उपलब्ध नहीं हो जाती. उसके लिए हर प्रकार का संघर्ष सहन करना पड़ता है, कठिनाईयों में भी दृढ़ रहना पड़ता है. मुनि पद्मसागरजी को भी अपने प्रारम्भिक श्रमण-जीवन में एक नहीं अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा. किन्तु हर संघर्ष में आप अडिग रहे. दुःखों को क्षणिक समझकर जीने की आपकी मानसिकता गजब की रही. मुनि पद्मसागरजी का प्रारब्ध भी अतीव प्रबल था. नागौर व पाली के कुछ श्रद्धालु

सज्जनों ने आपको तन, मन, धन से सहयोग दिया. निःसंदेह आज आचार्य प्रवर जीवन की महानतम ऊँचाईयों को छू चुके हैं, हजारों-लाखों के पूजनीय हैं. अतीत के संघर्ष ने ही वस्तुतः आपके वर्तमान को स्वर्णिम बनाया है.

उन्नति के शिखर पर : किसी ने कहा है-

संघर्षों में जो व्यंग-बाण सहते हैं, आजीवन पथ पर दृढ़ता से रहते हैं,
जब फलितार्थ होता है अथक परिश्रम, तो वे ही विरोधी बुद्धिमान कहते हैं।

मुनि पद्मसागरजी के जीवन पर यह मुक्तक ठीक-ठीक चरितार्थ होता है. यह संसार शक्ति का पूजक है. शक्तिहीन की यहाँ कोई गिनती नहीं होती. उदीयमान सूर्य को सभी नमस्कार करते हैं आगे बढ़ जाने के बाद उनके विरोधियों ने भी उनको बुद्धिमान और महान कहा. वर्षों पहले महान ध्येय को सामने रखकर जो कारवाँ सफर पर निकला था, वह आज भी जारी है. बौद्धिक प्रतिभा, व्यावहारिक कुशलता और जिनशासन के प्रति अपार आस्था को देखकर मुनि पद्मसागरजी को २८ जनवरी १९७४ को गणिपद से तथा ८ मार्च १९७६ को पंन्यास पद से विभूषित किया गया. तत्पश्चात् योग्यता को देखकर ९ दिसम्बर १९७६ के ऐतिहासिक दिन मेहसाणा की पावन धरा पर एक विशाल व शानदार समारोह में आपको आचार्य पद से विभूषित किया गया. आचार्य बन जाने के बाद पद्मसागरसूरिजी महाराज की ख्याति में भारी वृद्धि हुई.

ओजस्वी प्रवक्ता : आचार्यश्री के प्रवचनों के सन्दर्भ में लोग कहते हैं कि आप जादूगर हैं. प्रवचन में लोगों को

बांधे रखने के आपके सामर्थ्य की होड़ नहीं हो सकती. आप प्रभावकारी प्रवचनकार व बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं. भाषा की सरलता, स्पष्टवक्ता, अभिप्राय की गम्भीरता, विचारों की व्यापकता व प्रस्तुति की मौलिकता आचार्य पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज के प्रवचनों की विशेषताएं हैं. आपके प्रवचनों ने जनता में अद्‌भुत लोकप्रियता प्राप्त की है. जैन शासन को आप पर नाज है. आपके ओजस्वी प्रवचनों से व्यक्ति और समाज में आए परिवर्तन तो बेहिसाब हैं.

यशस्वी काम- भारी बहुमान : आचार्य बनने के बाद भावनगर (गुजरात) के अपने पहले चातुर्मास में दादागुरु व गुरुदेव के सान्निध्य में पद्मसागरसूरिजी महाराज ने दो महत्वपूर्ण काम किये थे. बाल-दीक्षा पर प्रतिबन्ध के भावनगर संघ के ठराव को अपनी अपार लोकप्रियता के आधार पर परिवर्तित करवाकर आचार्यश्री ने भव्य समारोह में एक बाल मुमुक्षु को समग्र संघ की सहमति से दीक्षा प्रदान करवाई. इतना ही नहीं, सात दशकों की अवधि में पहली बार भावनगर संघ में उपधान तप की आराधना का ऐतिहासिक आयोजन करवाया.

☐ अपने अनन्य भक्त एवं गुजरात के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री बाबूभाई जसभाई पटेल को कह कर आपने शत्रुंजय महातीर्थ के बाँध में होती जीव-हिंसा पर भी रोक लगवाई.

☐ बम्बई की महानगरपालिका के स्कूलों में विद्यार्थियों को फुड-टॉनिक के रूप में अण्डे दिये जाने के प्रस्ताव को आचार्यश्री ने महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री शंकरराव चौव्हाण को कहकर खारिज करवाया था. इस तथ्य की विधिवत् घोषणा स्वयं मुख्यमंत्री ने लेमिंगटन रोड पर स्थित नवजीवन सोसायटी में आयोजित आचार्य प्रवर के एक सार्वजनिक प्रवचन में आकर की थी. अपने सामर्थ्य के आधार पर ऐसे छोटे-बड़े सैकड़ों सत्कार्य करवाकर आचार्य पद्मसागरसूरिजी ने एक ओर जैन शासन की महान प्रभावना की तो दूसरी ओर लोक कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त किया.

☐ १९९३ में राजस्थान सरकार सभी ट्रस्टों में सरकारी प्रतिनिधि नियुक्त करने के लिए अध्यादेश लाने वाली है यह बात जब गुरुदेव को ज्ञात हुई तो उन्होंने तत्कालीन गवर्नर श्री चेन्न रेड्‌डी को अपना पक्ष रख कर अध्यादेश वापस करवाया जिससे धर्म क्षेत्र सरकारी हस्तक्षेप से बच सका.

☐ आचार्यश्री से प्रभावित होकर आपके संयम-पर्याय की रजतजयन्ती के अवसर पर भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति माननीय श्री नीलम संजीव रेड्‌डी ने बम्बई के राजभवन के विशाल दरबार हॉल में आपका राजकीय अभिनन्दन किया था. उल्लेखनीय है कि स्वयं राष्ट्रपति महोदय ने श्रेष्ठी श्री कस्तूरभाई लालभाई से मिलकर इस विराट् समारोह के लिए जैन साधुओं की आचार-मर्यादाओं के अनुरूप समग्र व्यवस्था करवाई थी. वाकई आचार्य श्री का बहुमान आपकी महानता और जिनशासन की साधुता का बहुमान था.

दक्षिण की यात्रा पर : आचार्यश्री की दक्षिण भारत की यात्रा ने तो सचमुच ही आपको राष्ट्र संत बना दिया. दक्षिण की अपनी ऐतिहासिक यात्रा के दौरान आपने लोक-कल्याण, धर्म-जागरण और स्थानीय जनता की आध्यात्मिक

चेतना के विकास व पोषण के लिये अभूतपूर्व कार्य किए. दक्षिण भारत ने अनेक महान साधुओं का पावन सान्निध्य पाया है. आगे भी उसे विरल प्रतिभाओं का संयोग मिलेगा, परन्तु पद्मसागरसूरीश्वरजी और उनके कार्य अपने आप में विशिष्टताओं से भरे हैं. आचार्य पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज के आगमन ने दक्षिण भारत को नई दिशा दी. उसे परम आलोक की अनुभूति करायी. दक्षिण भारत का आपका प्रवास जैन संघ की चेतना में प्राणों का संचार करता ऐतिहासिक घटनाक्रम है. आपके मधुर व्यवहार से अनेक जैन संघों में अनुशासनप्रियता का जन्म हुआ. आपके सौजन्यशील व शालीन उपदेशों से वर्षों से चले आ रहे अनेक विवाद सरलता से हल हो गए. संघ एक जुट हुआ. बरसों बाद दक्षिण भारत के जैन संघों में धर्मजिज्ञासु जनता को सफल-कुशल नेतृत्व का अनुभव हुआ. दक्षिण भारत में ज्ञान की विलुप्त धारा एक बार फिर तेज गति से बहने लगी.

☐ दक्षिण भारत की यात्रा के बाद १९९२ में आचार्यश्री ने कोबा में चातुर्मास किया. तत्पश्चात् आपश्री द्वारा अभिप्रेरित श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र द्वारा संचालित आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर, आचार्य श्री कैलाससागररसूरि समाधि मन्दिर के उद्‌घाटन, महावीरालय की कुलिकाओं में मुनिसुव्रतस्वामि एवं नेमिनाथ प्रभु की अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव, प.पू. अमृतसागरजी म.सा. तथा प.पू. श्री वर्धमानसागरजी म.सा. को पंन्यास पदवी

प्रदान के भव्य शासन प्रभावना के कार्य सम्पन्न कर आपश्री ने २ मई १९९३ को आपने उत्तर भारत की ओर विहार प्रारम्भ किया. इस विहार के दौरान आपश्री ने राजस्थान के अनेक गांवों एवं नगरों में धर्म-प्रभावना की. दिल्ली के जैन संघ की वर्षों की इच्छा पूर्ण करते हुए आपने एक बार नहीं बल्कि दो बार वहाँ चातुर्मास किये.

भारत की राजधानी दिल्ली में आपश्री ने विविध तप अनुष्ठान युक्त अभूतपूर्व चातुर्मास १९९४ में किया. पूज्य आचार्यश्री के प्रति अपार श्रद्धा भक्ति से प्रेरित राष्ट्रप्रति डॉ. शंकरदयाल शर्माजी का राष्ट्रपति भवन में पधारने का आमंत्रण दिया तथा जैन संघ के अनेक प्रश्नों को लेकर सफल मुलाकात की. अनेक राजनेताओं एवं प्रतिष्ठित संत-सन्यासियों से जिन शासन के प्रति उनके ह्रदय में अहोभाव जगाने वाली मुलाकातें हुईं. इस दौरान छोटी दादावाड़ी (नईदिल्ली) स्थित जिनमंदिर का खात मुहूर्त आदि संपन्न हुए. आचार्यश्री की निश्रा में सन् १९९५ में हरिद्वार तीर्थ में सभी सम्प्रदायों के संत-संन्यासियों के हार्दिक सहयोग से श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ के हरिद्वार में प्रथम जैन मन्दिर की भव्य अंजनशलाका-प्रतिष्ठा हुई. यहाँ से विहार कर कलकत्ता की ओर विहार करते हुए अग्रलिखित प्रमुख कार्य सम्पन्न किए :

☐ आगरा से शौरीपुर तीर्थ का ३५० यात्रियों का 'छ'रीपालित संघ व शौरीपुर तीर्थ में जिनमंदिर की प्रतिष्ठा

☐ कंपिलपुर तीर्थभूमि की स्पर्शना-वंदना और जीर्णोद्धार सम्बंधी मार्गदर्शन

☐ वाराणसी में श्री पार्श्वप्रभुजन्म कल्याणक भूमि में स्पर्शन-वंदन एवं बनारस हिंदू यूनिवर्सीटी में प्रवचन दिया

☐ सम्मेतशिखरजी तीर्थ में शोभायात्रा के साथ अतिभव्य प्रवेश

☐ बीस तीर्थंकरों की मोक्षकल्याणक भूमि की स्पर्शना-वंदना एवं मार्गदर्शन

☐ कलकत्ता महानगरी में अनेकविध शासन प्रभावना पूर्वक ऐतिहासिक चातुर्मास, पार्श्व फाउन्डेशन के तहत साधर्मिक भक्ति हेतु ५० लाख का फंड खड़ा करवाना, मल्लिफाटक हावड़ा में भव्य अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव, सलकीया-हावडा में अन्य दो गृह जिनमंदिरों की प्रतिष्ठा आदि.

☐ सन् १९९६ में पुनः श्री सम्मेतशिखर महातीर्थ में आपने पदार्पण किया तथा श्री भोमियाजी धर्मशाला में जिन बिंबों की भव्य अंजनशलाका प्रतिष्ठा, पूज्य अमृतसागरजी म. सा. को पंन्यासपद प्रदान, श्वेताम्बर कोठी में प्रतिष्ठा महोत्सव आदि संपन्न करवाया. क्षत्रियकुण्ड, गुणियाजी, ऋजुवालिका तथा राजगृही आदि तीर्थों का स्पर्शन वंदन कर कुण्डलपुर स्थित जिनमंदिरजी का जीर्णोद्धार एवं प्रतिष्ठा का मंगल कार्यक्रम आपश्री की निश्रा में सम्पन्न हुआ. इसके बाद राजगृही में पांचो पहाड़ों की तीर्थ यात्रा की जहाँ बौद्धधर्म के संत एवं नगरवासियों की ओर से पूज्य गुरुवर का अपूर्व नागरिक अभिनन्दन हुआ. गुरुदेवश्री द्वारा पाटलिपुत्र (पटना) में पहुँच कर स्थूलिभद्रजी की पावनभूमि का स्पर्शन-वंदन के समय बिहार पत्रकार परिषद ने अभिनन्दन समारोह तथा प्रवचन का आयोजन किया.

नेपाल में पदार्पण : रक्सौल होते हुए नेपाल में पूज्यश्री ने अपने शिष्य समुदाय सहित प्रवेश किया. सैंकडों वर्षों के बाद किसी जैनाचार्य का यहाँ आगमन हुआ था. वीरगंज में श्री महावीर जन्म कल्याणक पर्व जैन धर्म के चारों संप्रदायों ने अन्य धर्मियों के साथ मनाया.

☐ नेपाल की राजधानी काठमाण्डु में श्री महावीरस्वामि जिनमंदिर की अति भव्य प्रतिष्ठा आपश्री की निश्रा में संपन्न हुई. नेपाल नरेश श्री महाराजा वीरेंद्रवीर विक्रमशाह देव एवं महाराणी ऐश्वर्यादेवी का पूज्यश्री के दर्शन के लिये आना वहाँ के इतिहास के लिए अनुपम घटना बनी.

☐ यहाँ पर पूज्य गुरुमहाराज के प्रवचनों के संकलन गुरुवाणी नामक प्रकाशन का नेपाल के प्रधानमंत्री श्री देऊबा शेरबहादुर ने विमोचन किया. पूज्य गुरुदेव ने जनकपुरी-नेपाल में मल्लिनाथ एवं नमिनाथजी भगवान के चार-चार कल्याणकों की भूमि की स्पर्शना की तथा यहाँ पर मंदिर न होने के कारण कल्याणक भूमि में जिनमंदिर युक्त तीर्थ का रूप देने हेतु विशाल आयोजन की प्रेरणा की. नेपाल से वापसी में आपश्री ने वासुपूज्यस्वामी की कल्याणक भूमि चंपापुरी में स्पर्शन, वंदन करते हुए ४३ वर्ष के सुदीर्घ समय के बाद प्रथम बार १९९६ में अपनी जन्मभूमि अजीमगंज (प. बंगाल) में चातुर्मास किया. आपश्री की निश्रा में यहाँ पर चार जिनमंदिरों की पुनः प्रतिष्ठा संपन्न हुई तथा जियागंज में अष्टाह्निकादि महोत्सवों का आयोजन हुआ.

☐ सन् १९९७ कलकत्ता में बीकानेर निवासी श्री संदीपकुमार रामपुरीया की भव्य दीक्षा का आयोजन हुआ. कलकत्ता में ऐसी दीक्षा कई वर्षों के बाद हुई थी. इस अवसर पर हिन्दी व अंग्रेजी अर्थ युक्त सर्व प्रथम पूज्य मुनि

श्री निर्वाणसागरजी द्वारा संपादित दो प्रतिक्रमण सूत्र की बहूपयोगी पुस्तक का विमोचन भी हुआ.

☐ शासन प्रभावना के अनेक आयोजन पूर्वक शिखरजी, वाराणसी, अयोध्या, श्रावस्ती, लखनऊ, कानपुर, आगरा, मथुरा होते हुए पूज्य गुरुदेव का पुनः भारत की राजधानी दिल्ली मे अपने दूसरे चातुर्मास (१९९७) हेतु प्रवेश किया. इस चातुर्मास के बाद हस्तिनापुर होते हुए हरिद्वार में आदिनाथ भगवान की चरण पादुका मंदिर की प्रतिष्ठा एवं नूतन धर्मशाला का शिलान्यास का भव्य कार्यक्रम करते हुए लौटते समय दिल्ली में अशोकविहार स्थित नूतन जिनमंदिर निर्माण का खात मुहूर्त एवं शिलान्यास विधि करवाई.

☐ दिल्ली में आचार्यश्री की निश्रा में १८ युवा मंडलों का एक महासंघ गठित किया गया, जो एक महत्वपूर्ण घटना रही. सन् १९९८ में राजस्थान होते हुए गुजरात आते समय मार्ग में खीरिया, सोकलीया (मेवाड़) में जिनमंदिर की प्रतिष्ठादि, अडपोदरा नूतन उपाश्रय कैलास स्मृति भवन का उद्घाटन तथा आचार्य श्री कैलाससागरसूरि गुरुमूर्ति की दर्शनार्थ स्थापना की. महेसाणा के विनायक पार्क में मुनिसुव्रतस्वामी जिनालय की अंजनशलाका प्रतिष्ठा, पूज्य चारित्रमूर्ति रविसागरजी म. सा. की पुण्य शताब्दी वर्ष के अवसर पर आयोजित अष्टाह्निका महोत्सव, पूज्य गणिवर्य श्री अरुणोदयसागरजी म. सा. एवं पूज्य गणिवर्य श्री विनयसागरजी म. सा. को पंन्यास पद अर्पण, अहमदाबाद स्थित मीरांबिका जैन श्वे. मू. संघ के नूतन उपाश्रय के उद्घाटन आदि मंगल कार्यक्रमों को आपकी निश्रा प्राप्त हुई है.

☐ सन् १९९८ में कोबा, १९९९ में साबरमती, २००० में मुंबई तथा २००१ में आपश्री ने गांधीनगर में चातुर्मास किया. विगत ४ वर्षों में आपश्री की निश्रा में अखिल भारतीय जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक युवक महासंघ, डॉक्टर्स फेडरेशन, जैन चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट विंग आदि संस्थाओं के गठन तथा विकास की उत्तम घटनाएँ घटी है हैं. २००० के मुंबई चातुर्मास के दौरान आपश्री की निश्रा में श्री बुद्धिसागरसूरि महोत्सव त्रयी का आयोजन चिर स्मरणीय रहेगा.

अमर कृतित्व : आचार्यश्री का व्यक्तित्व जितना प्रभावपूर्ण हैं, उतना ही गौरवपूर्ण है आपका कृतित्व भी. सम्यग्ज्ञान और आध्यात्मिक साधना के संगम के रूप में अहमदाबाद के समीप कोबा ग्राम में विनिर्मित **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र** शासन को समर्पित आचार्य देव का अमर सृजन है. इस संस्थान के अन्तर्गत आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर में सुरक्षित लाखों हस्तप्रतें, स्वर्णलिखित ग्रन्थ, सैकड़ों ताड़पत्रीय ग्रन्थ, बेशकीमती प्रतचित्र, अनेक मूर्तियाँ, एक लाख मुद्रित पुस्तकें इत्यादि बहुमूल्य पुरातन सामग्री जैन शासन की अमूल्य निधि व धरोहर है. इस समग्र ज्ञान सामग्री के उचित व्यवस्थापन तथा सम्यक् उपयोग हेतु कम्प्यूटर आधारित सूचना पद्धति देश में अनूठी और पहली बार यहीं पर विकसित की गई है. विद्वानों तथा ज्ञान-पिपासुओं के लिए यह तीर्थ वरदान सिद्ध हो रहा है.

धर्म व श्रुत-आराधना का आह्लादक धाम
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
कोबा, गांधीनगर ३८२००९

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा आज चार नामों से जुड़कर निरन्तर प्रगति और प्रसिद्धि के शिखर सर कर

रहा है. प्रथम- प्रतिवर्ष २२ मई को दो बजकर सात मिनट पर महावीरालय में परमात्मा महावीर स्वामी के ललाट पर सूर्यकिरणों से बनने वाला देदीप्यमान तिलक, द्वितीय- आचार्य श्री कैलाससागरसूरि म.सा. की पावन स्मृति, तृतीय- आचार्यश्री पद्मसागरसूरि म. सा. की प्रेरणा तथा चतुर्थ- अपने आप में अनुपम आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर. इनमें से किसी का भी नाम लेने पर स्वतः ये चार स्वरूप उभर कर आते हैं. ये चारों एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं.

अहमदाबाद-गांधीनगर राजमार्ग पर स्थित साबरमती नदी के समीप सुरम्य वृक्षों की घटाओं से घिरा हुआ यह ज्ञान तीर्थ प्राकृतिक शान्तिपूर्ण वातावरण का अनुभव कराता है. गच्छाधिपति, महान जैनाचार्य श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी के प्रशिष्य युगद्रष्टा राष्ट्रसंत आचार्य प्रवर श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी के शुभाशीर्वाद से श्री

महावीर जैन आराधना केन्द्र की स्थापना २६ दिसम्बर १९८० के दिन की गई थी. आचार्यश्री की यह इच्छा थी कि यहाँ पर धर्म, आराधना और ज्ञान-साधना की कोई एकाध प्रवृत्ति ही नहीं वरन् अनेकविध ज्ञान और धर्म-प्रवृत्तियों का महासंगम हो. एतदर्थ आचार्यश्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. की स्मृति में आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर का निर्माण खास तौर पर किया गया. आज श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र अनेकविध प्रवृत्तियों में अपनी निम्नलिखित शाखाओं प्रशाखाओं के सत्प्रयासों के साथ धर्मशासन की सेवा में तत्पर है.

महावीरालयः

हृदय में अलौकिक धर्मोल्लास जगाने वाला जिनेश्वर श्रीमहावीरस्वामी का अतिभव्य प्रासाद 'महावीरालय' दर्शनीय है. प्रथम तल पर गर्भगृह में मूलनायक महावीरस्वामी आदि ११ प्रतिमाओं के दर्शन अलग-अलग देरियों में होते हैं तथा भूमि तल पर आदीश्वर भगवान की भव्य प्रतिमा, माणिभद्रवीर तथा भगवती पद्मावती सहित पांच प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं. सभी प्रतिमाएँ इतनी मोहक एवं चुम्बकीय आकर्षण रखती हैं कि लगता है, सामने ही बैठे रहें.

मंदिर को परंपरागत शैली में शिल्पांकनों द्वारा रोचक पद्धति से अलंकृत किया गया है, जिससे सीढियों से लेकर शिखर के गुंबज तक तथा रंगमंडप से गर्भगृह का चप्पा-चप्पा जैन शिल्प कला को आधुनिक युग में पुनः जागृत करता दृष्टिगोचर होता है. २४ यक्ष, २४ यक्षिणिओं, १६ महाविद्याओं, विविध स्वरूपों में अप्सरा, देव, किन्नर, पशु-पक्षी आदि सहित वेल-वल्लरी आदि इस मंदिर को जैन शिल्प एवं स्थापत्य के क्षेत्र में एक अप्रतिम उदाहरण के रूप में सफलतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं.

इस महावीरालय की विशिष्टता यह है कि आचार्यश्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. के अन्तिम संस्कार के समय प्रतिवर्ष २२ मई को दुपहर, २ बजकर ७ मिनट पर महावीरालय के शिखर में से होकर सूर्य किरणें श्री महावीरस्वामी के तिलक को देदीप्यमान करे ऐसी अनुपम एवं अद्वितीय व्यवस्था की गई है. उस दिन इस आह्लादक घटना का दर्शन बड़ी संख्या में जनमेदनी भावविभोर होकर करती है.

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि स्मृति मंदिर (गुरु मंदिर):

पूज्य गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. के पुण्य देह के अन्तिम संस्कार स्थल पर पूज्यश्री की पुण्य-स्मृति में संगमरमर का कलात्मक गुरु मंदिर निर्मित किया गया है. स्फटिक रत्न से निर्मित अनन्तलब्धि निधान श्री गौतमस्वामीजी की मनोहर मूर्ति तथा स्फटिक से ही निर्मित गुरु चरण-पादुका वास्तव में दर्शनीय हैं. इस गुरु मंदिर में दीवारों पर संगमरमर की आठ जालियों में दोनों ओर श्रीगुरुचरणपादुका तथा गुरु श्री गौतमस्वामी के जीवन की विविध घटनाओं का तादृश रूपांकन करने के सफल प्रयास किये गये हैं. इस स्थान पर फर्श एवं गर्भगृह की चौकी आदि पर कीमती पत्थरों द्वारा बेल-बूटों की सुंदर पच्चीकारी का कार्य किया गया है. यहाँ पर आचार्यश्री के जीवन-प्रसंगों को स्वर्णाक्षरों से अंकित करने की भी योजना है.

आराधना भवनः आराधक यहाँ आत्माराधना कर सकें इसके लिए यहाँ आराधना भवन का निर्माण किया गया है. प्राकृतिक हवा एवं रोशनी से भरपूर इस आराधना भवन में मुनि भगवंत स्थिरता कर अपनी संयम आराधना के साथ-साथ विशिष्ट ज्ञानाभ्यास, ध्यान, स्वाध्याय आदि का योग प्राप्त करते हैं. साधु भगवंतो के उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए अपने-अपने क्षेत्र के विद्वान पंडितजनों का विशिष्ट प्रबन्ध किया गया है. यह ज्ञान, ध्यान तथा आत्माराधना के लिये विद्यानगरी काशी के सदृश सिद्ध हो सके इस हेतु प्रयास किये गए हैं तथा आगे भी चल रहे हैं.

मुमुक्षु कुटीरः देश विदेश के जिज्ञासुओं, ज्ञान पिपासुओं के लिए दस मुमुक्षु कुटीरों का निर्माण किया गया है. हर खण्ड जीवन यापन सम्बन्धी प्राथमिक सुविधाओं से सम्पन्न है. संस्था के नियमानुसार विद्यार्थी मुमुक्षु सुव्यवस्थित रूप से यहाँ उच्चस्तरीय ज्ञानाभ्यास, प्राचीन एवं अर्वाचीन जैन साहित्य का परिचय एवं संशोधन तथा मुनिजनों से तत्त्वज्ञान प्राप्त
कर सकते हैं.

भोजनशाला एवं अल्पाहार गृहः यहाँ आनेवाले श्रावकों, दर्शनार्थियों, मुमुक्षुओं, विद्वानों एवं यात्रियों की सुविधा हेतु जैन सिद्धान्तों के अनुरूप सात्त्विक भोजन उपलब्ध कराने की भोजनालय व अल्पाहार गृह में सुन्दर व्यवस्था है.

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर :

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र की यह आत्मा है. यह स्वयं अपने आप में एक विशाल संस्था है. आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर के अन्तर्गत निम्नलिखित विभाग कार्यरत हैं:

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हस्तप्रत भांडागारः देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हस्तप्रत भांडागार में लगभग दो लाख से अधिक प्राचीन दुर्लभ हस्तलिखित शास्त्र ग्रंथ संग्रहित हैं. इनमें आगम, न्याय, दर्शन, योग, व्याकरण, इतिहास आदि विषयों से सम्बन्धित अद्‌भुत ज्ञान का सागर है. इस भांडागार में ३,००० से अधिक प्राचीन व अमूल्य ताड़पत्रीय ग्रंथ विशिष्ट रूप से संग्रहित है. इतना विशाल संग्रह किसी भी ज्ञानभंडार के लिये गौरव का विषय हो सकता है. आचार्यश्री पद्मसागरसूरीश्वरजी ने अपनी भारत-भर की पदयात्रा के दौरान छोटे-छोटे गाँवों में असुरक्षित, उपेक्षित एवं नष्ट हो रही भारतीय संस्कृति की यह अनूठी निधि लोगों को प्रेरित कर संग्रहित करवाई है. यहाँ इन बहुमूल्य कृतियों को विशेष रूप से बने ऋतुजन्य दोषों से मुक्त कक्षों में पारम्परिक ढंग से विशिष्ट प्रकार की काष्ठ-मंजूषाओं में संरक्षित किया जा रहा है. क्षतिग्रस्त प्रतियों को रासायनिक प्रक्रिया से सुरक्षित करने की बृहद योजना है. महत्वपूर्ण ग्रन्थों की माइक्रोफिल्म कम्प्युटर स्केनिंग आदि की भी लेने की योजना है. अनेक हस्तलिखित ग्रंथ सुवर्ण व रजत से आलेखित, तथा सैकड़ों सचित्र हैं.

आर्य सुधर्मास्वामी श्रुतागारः ज्ञानमंदिर में भूतल पर विद्वानों आदि हेतु कक्ष/उपकक्ष सहित पाठकों के लिए अध्ययन की सुन्दर व्यवस्था युक्त आर्य सुधर्मास्वामी श्रुतागार नामक ग्रंथालय है. यहाँ कुल मिला कर लगभग एक लाख मुद्रित प्रतें एवं पुस्तकें हैं. ग्रंथालय में भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त विशेष रूप में जैन धर्म से सम्बन्धित सामग्री सर्वाधिक है. इस सामग्री को इतना अधिक समृद्ध किया जा रहा है कि जैनधर्म से सम्बन्धित कोई भी जिज्ञासु यहाँ आकर अपनी जिज्ञासा पूर्ण कर सके.

आर्यरक्षितसूरि शोधसागरः ज्ञानमंदिर में संग्रहित हस्तलिखित ग्रंथों तथा मुद्रित पुस्तकों की व्यवस्था करना एक बहुत ही जटिल कार्य है, लेकिन ग्रंथ सरलता से उपलब्ध हो सके इसके लिये बहुउद्देशीय कम्प्यूटर केन्द्र ज्ञानमंदिर के द्वितीय तल पर कार्यरत है. ग्रंथालय सेवा में कम्प्यूटर का महत्त्व वर्तमान समय में अत्यंत आवश्यक हो गया है. हस्तलिखित व मुद्रित ग्रंथों, उनमें समाविष्ट कृतियों तथा पत्र पत्रिकाओं का विशद सूची-पत्र एवं विस्तृत सूचनाएँ अपने आप में अनोखी पद्धति से विश्व में प्रथम बार कम्प्यूटराइज की जा रही हैं. इसके परिमाण स्वरूप किसी भी प्रकाशन, कृति, कर्ता, संपादक, प्रकाशक, प्रकाशन स्थल, प्रकाशन वर्ष, ग्रंथमाला, कृति के आदि व अंतिम वाक्यों, रचना स्थल, रचना वर्ष आदि से संबद्ध किसी की भी कम से कम दो अक्षरों की जानकारी होने पर इनसे परस्पर संबद्ध अन्य विवरणों की विस्तृत सूचनाएँ बहुत ही सुगमता से उपलब्ध होते देख विद्वद्वर्ग आश्चर्यचकित रह जाता है.

प्रकाशनों एवं हस्तप्रतों को विशेष पद्धति से उनकी विशिष्ट उपयोगी लाक्षणिकता के आधार पर भी शोध की जा सके इस हेतु संकेताक्षरों से इनकी कोडिंग की गई हैं. जिससे कम से कम जानकारी होने पर भी वाञ्छित सूचनाओं की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है.

ज्ञानमंदिर के अन्तर्गत निम्नलिखित परियोजनाओं पर कार्य प्रगति पर हैः

(१) समग्र उपलब्ध जैन साहित्य की विस्तृत सूची तैयार करना.

इसके तहत (क) समग्र हस्तलिखित जैन साहित्य का विस्तृत सूचीपत्र बनाना (ख) समग्र मुद्रित जैन साहित्य का कोश तैयार करना. (ग) प्राचीन अर्वाचीन जैन विद्वानों (श्रमण व गृहस्थ-दोनों) की परम्परा व उनके व्यक्तित्व - कृतित्त्व

सम्बंधित जानकारी को संग्रहित करना.

(२) अप्रकाशित जैन साहित्य का सूची-पत्र बनाना. (३) अप्रकाशित व अशुद्ध प्रकाशित जैन साहित्य को संशुद्ध बनाकर प्रकाशित करना.

(३) प्राचीन जीर्ण-शीर्ण, क्षतिग्रस्त एवं दुर्लभ पाण्डुलिपियों एवं संस्था में अनुपलब्ध ऐसी महत्त्वपूर्ण हस्तप्रतों एवं प्रकाशनों को जेरोक्सिंग, माईक्रोफिल्मिंग तथा कम्प्युटर स्केनिंग आदि के माध्यम से संशोधन के लिए उपलब्ध कराना.

(४) जैन हस्तप्रत व मुद्रित पुस्तकालय व्यवस्थापन, प्राचीन लिपि पठन-पाठन का शिक्षण तथा समय-समय पर

कार्य-शिविरों, व्याख्यान, विचारगोष्ठी तथा अनेकविध शैक्षणिक प्रवृत्तियों का आयोजन करना आदि.

वाचकों की सुविधा हेतु अहमदाबाद नगर में ज्ञानमन्दिर की शाखा : अहमदाबाद के जैन बहुल क्षेत्र पालडी विस्तार में आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर की कम्प्यूटर सेवा से सुसज्ज शाखा में स्थानीय वाचकों की सुविधा हेतु कोबा स्थित ज्ञानमंदिर की सभी सूचनाएँ सुगमता से प्राप्त होती हैं. यहाँ से पुस्तकों के आदान-प्रदान तथा जनसंपर्क का भी कार्य होता है.

सम्राट सम्प्रति संग्रहालय :

सम्राट सम्प्रति संग्रहालय ज्ञानमंदिर में प्रथम तल पर अवस्थित है. पुरातत्त्व-अध्येताओं और जिज्ञासु दर्शकों के लिए प्राचीन भारतीय शिल्प कला परम्परा के गौरवमय दर्शन इस स्थल पर होते हैं. पाषाण व धातु मूर्तियों, ताड़पत्र व कागज पर चित्रित पाण्डुलिपियों, लघुचित्र, पट्ट, विज्ञप्तिपत्र, काष्ठ तथा हस्तिदंत से बनी प्राचीन एवं अर्वाचीन अद्वितीय कलाकृतियों तथा अन्यान्य पुरावस्तुओं को बहुत ही आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से धार्मिक व सांस्कृतिक गौरव के अनुरूप प्रदर्शित की गई है. इस संग्रहालय का विशिष्ट आकर्षण परमार्हत कुमारपाल खंड है, जहाँ विशेष रूप से जैन श्रुत की श्रवण परम्परा से प्रारम्भ कर शिला, ताम्रपत्र, भूर्जपत्र, ताड़पत्र तदनन्तर हाथ से बने कागज पर लेखन कला के विकास की यात्रा दर्शाई गई है, जिसे देखकर हमें अपने पूर्वजों द्वारा उपलब्ध किये गये आध्यात्मिक उत्कर्ष, सांस्कृतिक गौरव एवं कला की श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं. संग्रहालय को और भी समृद्ध करने के प्रयास किए जा रहे हैं. समय समय पर विशिष्ट प्रदर्शन भी आयोजित किये जाते हैं.

श्रुत सरिता : श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र में आने वाले दर्शनार्थियों एवं ज्ञान-पिपासुओं को उचित मूल्य पर जैन साहित्य व आराधना सामग्री उपलब्ध हो सके.

विश्व मैत्री धाम बोरीज, गांधीनगर :

गांधीनगर स्थित बोरीज गांव में परम पूज्य आचार्य देव श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की प्रेरणा एवं शुभाशीर्वाद से श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र की शाखा विश्व मैत्री धाम का निर्माण कार्य तीव्र गति से चल रहा है. विश्व मैत्री धाम के तत्त्वावधान में बोरीज स्थित श्री धनलक्ष्मी महावीरस्वामी जिनमंदिर का जीर्णोद्धार कार्य भी हो रहा है. यहाँ पर स्थित वर्तमान मन्दिर में इसी स्थान पर जमीन में से निकली भगवान महावीरस्वामी की प्रतिष्ठा योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी महाराज द्वारा हुई थी. नवीन मन्दिर स्थापत्य एवं शिल्प दोनों ही दृष्टि से दर्शनीय बनेगा. यहाँ पर एक कसौटी पत्थर की उस देवकुलिका के भी पुनर्स्थापन की भी योजना है जो पश्चिम बंगाल के जगत शेठ के यहाँ किसी समय थी. निस्संदेह इससे इस परिसर की शोभा में चार चांद लगेंगे.

सम्पूर्ण परिकल्पना के स्वप्नद्रष्टा एवं शिल्पी :

तत्कालीन गच्छाधिपति आचार्य भगवन्त श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. के असीम आशीर्वाद व युगद्रष्टा राष्ट्रसन्त महान जैनाचार्य श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा. के अथक-अनवरत परिश्रम, कुशल मार्गनिर्देशन एवं सफल सान्निध्य के फलस्वरूप श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र अपने आप में एक जीवन्त ऐतिहासिक स्मारक बन गया है. इस ज्ञानयज्ञ में आचार्य प्रवर के शिष्य रत्नों के अहर्निश सत्प्रयास, कार्यकर्ताओं की लगन तथा उदार

दान-दाताओं का अविस्मरणीय सहयोग भुलाया नहीं जा सकेगा.

दर्शकों एवं विद्वानों ने यहाँ की व्यवस्था की भूरी-भूरी प्रशंसा की है तथा सुचारु एवं चिरकाल तक हस्तप्रतों को संरक्षित करने की व्यवस्था से प्रभावित होकर अनेक जैन संघों ने बंद पड़े ज्ञान भण्डार एवं लोगों ने स्वयं अपने व्यक्तिगत संग्रहों को यहाँ भेंट दिया है. निकट भविष्य में और भी विस्तार की यहाँ अनगिनत सम्भावनाएँ तथा योजनाएँ हैं, विशेष रूप से एक विशाल साध्वीजी उपाश्रय, यात्रिक धर्मशाला तथा नूतन भोजनालय शीघ्र ही निर्मित होगी.

नम्र निवेदन:

श्रीसंघ व समाज के विशिष्ट कार्यों हेतु संस्था के निरंतर विकास की विभिन्न परियोजनाओं के लिए आपसे तन-मन-धन से सहयोग अपेक्षित है. श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र (रजि. नं. ए/२६५९, अहमदाबाद) को दिया गया अनुदान आयकर अधिनियम ८०जी के अन्तर्गत कर-मुक्ति का अधिकार रखता है.

सहयोग ही सफलता की कुँजी है

सम्पर्क सूत्रः
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र,
कोबा, गांधीनगर ३८२ ००९ गुजरात (भारत)
फोनः (०७९) ३२७६२०४, ३२७६२०५, ३२७६२५२, ८५२८०५९, ३०९६०५०१
फेक्सः ९१-७९-३२७६२४९
Email: kendra@kobatirth.org
Website: www.kobatirth.org

ग्रंथालय-सूचना के क्षेत्र में

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा तीर्थ

संचालित

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर की अद्वितीय उपलब्धियाँ

राष्ट्रसंत आचार्यदेव श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की प्रेरणा से स्थापित श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र में स्थित आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर वर्तमानकाल के एक विशिष्ट एवं विलक्षण जैन ज्ञानभंडार के रूप में ख्याति प्राप्त कर रहा है. इस ज्ञानभंडार में करीब दो लाख प्राचीन हस्तप्रतें सुरक्षित हैं. इनमें ३००० से ज्यादा ताड़पत्रीय ग्रंथ हैं. छोटे-छोटे गाँवों में अस्त-व्यस्त पड़े और नष्टप्राय स्थिति को प्राप्त इस दुर्लभ संग्रह को प. पू. राष्ट्रसंत शासन-प्रभावक आचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. ने अपने अब तक के एक लाख किलोमीटर से ज्यादा लम्बे विहार के दौरान एकत्रित करवा कर भारत में ही सुरक्षित एवं संरक्षित करने का अनुपम प्रयास किया है, जो समुचित ध्यान न दिए जाने पर नष्ट होने अथवा विदेशों में स्थानांतरित होने का भय था. साथ ही यहाँ पर लगभग १ लाख ११ हजार से ज्यादा मुद्रित पुस्तकें भी हैं.

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर में एक सुंदर व समृद्ध संग्रहालय भी है. जिसमें जैन एवं आर्य संस्कृति की बहुमूल्य निधि रूप प्राचीन प्रतिमाएँ, शिल्प, कलात्मकता से युक्त विविध वस्तुएँ एवं सचित्र हस्तप्रतें आदि संगृहित की गई हैं.

ज्ञानमन्दिर में रहे इस विशिष्ट रूप से संगृहीत जैन धर्म एवं भारतीय संस्कृति के इतने विशालकाय सुंदर संग्रह का व्यवस्थापन वस्तुतः एक बहुत बड़ी चुनौती है. लेकिन कम्प्यूटर की सहायता से इस कार्य को बहुत ही आसान बना दिया गया है. यह उल्लेखनीय है कि इन सभी ग्रंथों की सूक्ष्मतम जानकारी खास विकसित की गई सूचीकरण प्रणाली के द्वारा सर्वप्रथम बार कम्प्यूटर में भरी जा रही है. जैन साहित्य एवं साहित्यकार कोश के अंतर्गत शक्य सभी जैन ग्रंथों एवं उनमें अंतर्निहित कृतियों का कम्प्यूटराइजेशन यहाँ का एक बहुत बड़ा महत्वाकांक्षी प्रोजेक्ट है. इस कार्य को १९ कम्प्यूटरों के उपयोग से आठ पंडितों (जो कम्प्यूटर के उपयोग के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित किए गए हैं) एवं अन्य अनेक सह कर्मचारियों के सहयोग से किया जा रहा है. इस ग्रंथालय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर ग्रंथों की सूचना पद्धति, कि जो अन्य सभी ग्रंथालयों में द्विस्तरीय पद्धति (यह प्रकाशन एवं पुस्तक इन दो पर ही आधारित होती है) के स्थान पर त्रिस्तरीय सूचना पद्धति (कृति, प्रकाशन एवं पुस्तक इन तीन भागों में विभक्त कर) बहुआयामी दिशाओं में विकसित की गई है. ग्रंथालय सूचना पद्धति में कृति की यह विभावना स्वतः में अनूठी एवं बहूपयोगी सिद्ध हुई है.

कम्प्यूटर की सहायता से हम किसी भी पुस्तक का प्रकाशन नाम, संपादक, संशोधक, ग्रंथमाला

(पब्लिकेशन सिरीज़), प्रकाशक, प्रकाशन स्थल, प्रकाशन वर्ष आदि मुद्दों के आधार पर कुछ ही क्षणों में संपूर्ण

सूचना प्राप्त कर सकते हैं जो रजिस्टरों अथवा कार्डों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती. इसकी अनुपम विशिष्टता यह है कि उपर्युक्त मुद्दों/मदों के अंतर्गत आने वाले प्रारंभिक अक्षरों पर कम्प्यूटर अनुक्रमणिका तैयार करता ही है साथ ही इन नामों के प्रारम्भिक अक्षर ज्ञात न होने पर भी नाम में कहीं भी आने वाले अक्षरों के छोटे से छोटे समूह (कम से कम दो अक्षर) की जानकारी होने पर पूरा नाम स्वतः विस्तृत जानकारी के साथ स्क्रीन पर प्रदर्शित हो जाता है. जैसे :

१. किसी वाचक को प्रकाशन नाम के अंतर्गत *दीक्षा* शब्द ही याद है तो ऐसी स्थिति में एक विशेष प्रोग्राम के अंतर्गत क्वेरी रन करने पर किसी भी प्रकाशन या कृति नाम में कहीं भी *दीक्षा* शब्द आया हो तो उनकी संपूर्ण सूची विस्तृत सूचनाओं के साथ उपलब्ध हो जाती है.

२. इसी प्रकार एक उदाहरण में कल्पसूत्र की *प्रदीपिका टीका* की आवश्यकता है. इसे उपलब्ध करना किसी के लिए बहुत बड़ी समस्या हो सकती है किन्तु यहाँ पर प्रदीपिका टीका की खोज करने पर स्वतः इस कृति का मूल व संलग्न प्रकाशन नाम या हस्तप्रत का नाम एवं अन्य सूचनाएँ पलक झपकते मिल सकती है.

३. कृति, प्रकाशन, विद्वान आदि सभी नामों के शक्य एकाधिक अपर नाम प्रविष्ट किए गए हैं जिसके परिणामस्वरुप जिस वाचक को जो भी नाम स्मरण हो वाञ्छित सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती है. जैसे *बारसासूत्र, कप्पसूत्त* या *कल्पसूत्र* कोई भी कम्प्यूटर पर देने पर वाञ्छित सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती है.

४. किसी भी प्रकाशक विशेष द्वारा प्रकाशित एवं निश्चित विद्वान द्वारा संपादित कृति विशेष की शोध करनी हो तो संलग्न प्रकाशन एवं विस्तृत सूचनाएँ सरलता से प्राप्त की जा सकती है

५. किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाशित सभी प्रकाशनों की सूचना प्राप्त की जा सकती है. जैसे किसी को *देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड* से प्रकाशित पुस्तकों की सूची चाहिए तो सभी संलग्न सूचनाओं के साथ स्क्रीन पर उपलब्ध होने के साथ ही इस सूची की प्रिन्ट भी तुरन्त मिल सकती है.

६. इसी प्रकार किसी ग्रंथमाला से संलग्न सभी प्रकाशनों की जानकारी उपलब्ध हो सकती है. उदाहरण के लिए किसी को यदि *आत्मानन्द जैन ग्रंथ माला* का प्रकाशन चाहिए और कोई एक प्रकाशन नाम उसे स्मरण नहीं है तब ग्रंथमाला से संलग्न प्रकाशनों की सूची देखकर तुरन्त वाञ्छित प्रकाशन की शोध की जा सकती है.

७. किसी एक कृति का पूरा परिवार अर्थात मूल कृति पर पुत्र-प्रपौत्र-प्रप्रपौत्रादि के स्तर पर रहे हुए टीका, विवरण, अनुवाद, सारांश, अध्ययन आदि के विषय में विस्तृत सूचना तथा इन सभी कृतियों से संलग्न प्रकाशनों तथा अन्य सूचनाओं की जानकारी प्राप्त की जा सकती है. उदाहरण के लिए आवश्यकसूत्र का हिस्सा प्रथम अध्ययन, इसकी निर्युक्ति, निर्युक्ति का भाष्य, भाष्य का हिस्सा गणधरवाद, गणधरवाद की (सं.) टीका, विवेचन का (हिन्दी) अनुवाद. एक दूसरे उदाहरण में कल्पसूत्र (मूल), इसकी सुबोधिका टीका, वृत्ति का (गु.) अनुवाद, (गु.) अनुवाद का (हिन्दी) अनुवाद या मूल तथा टीका का (अं.) विवेचन. इन दोनों उदाहरणों में मूल कृति के संपूर्ण परिवार की विस्तृत सूचनाएँ यथा- एकाधिक अपर नाम, एकाधिक आदिवाक्य, परिमाण, भाषा, अध्याय, एकाधिक कर्ता, रचना वर्ष, रचना स्थल तथा इन सभी कृतियों के प्रकाशन नाम, प्रकाशक, वर्ष, पृष्ठ, संपादकादि एवं पुस्तक संख्या आदि का विवरण प्राप्त हो जाता है.

८. कर्ता एवं संपादक से सम्बद्ध कृतियों एवं प्रकाशनों की जानकारी प्राप्त हो सकती है. जैसे सम्पादक के रूप में प. पू. मुनिराज श्री जम्बूविजयजी तथा प्रकाशक के रूप में महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई

का प्रकाशन या कृति खोजनी हो इतनी जानकारी सरलता से प्राप्त हो सकती है. इस उदाहरण में श्री

जम्बूविजयजी के सारे संपादन या श्री महावीर जैन विद्यालय की पूरी सूची देखने की आवश्यकता नहीं रहेगी. ऐसी स्थिति में श्री जम्बूविजयजी की मात्र श्री महावीर जैन विद्यालय से प्रकाशित कृति या प्रकाशन मिलेंगे अन्य नहीं. इससे श्रम एवं समय की पर्याप्त बचत होगी.

९. लायब्रेरी प्रोग्राम में एक और क्रांतिकारी सुविधा उपलब्ध की गई है जिसके अंतर्गत प्रत्येक प्रकाशन की कृति से स्वतंत्र उसकी स्वयं की लाक्षणिकताओं के सूचक लगभग १०० शब्दों/संकेतों का संकलन किया गया है. प्रत्येक प्रकाशन को वाचक की उपयोगिता एवं आवश्यकता तथा प्रकाशन के स्वरूप, सामग्री, माध्यम, कलेवर आदि को दृष्टिगत रखते हुए लाक्षणिकता सूचक शब्दों के साथ संयोजित किया जा रहा है. लाक्षणिकता की सूची में अभिनंदन ग्रंथ, स्मृति ग्रंथ, स्मारिका, पद संग्रह, सुभाषित संग्रह, शोध ग्रंथ, समीक्षित ग्रंथ पाठ, स्वाध्याय पोथी, चित्र कथा, चित्र संपुट, स्तवन संग्रह, पत्र संग्रह,

लेख संग्रह, शिला छाप, मोटे अक्षर, एक ही ओर छपा, मोटा कागज इत्यादि शब्द हैं. इन शब्दों पर से संलग्न प्रकाशन सरलता से खोजा जा सकता है. जैसे किसी को स्तुति संग्रह से सम्बन्धित प्रकाशन देखने हो और प्रकाशन का नाम ज्ञात नहीं है, वैसी स्थिति में भी स्तुति संग्रह शब्द से सम्बन्धित प्रकाशनों को देखने पर सहजता से जानकारी प्राप्त की जा सकती है.

१०. पुस्तकों की शोध में समय की बचत के लिए वाचकों की १२ श्रेणियाँ की गई है. जैसे बालक, जिज्ञासु, महिला, विद्यार्थी सामान्य, विद्यार्थी माध्यमिक, विद्यार्थी उच्चतर, संशोधक आदि, इन श्रेणियों को प्रत्येक प्रकाशन के संलग्न करने का कार्य चल रहा है. इस पद्धति के अंतर्गत यदि बालक हेतु पुस्तकों की खोज करनी है तो मात्र बालक योग्य प्रकाशनों को शीघ्रता से प्रस्तुत किया जा सकता है. बालक को चित्रकथा वाले प्रकाशन चाहिए तो इनकी सूची तत्काल प्राप्त की जा सकती है. इनसे वाचकों को सन्दर्भ सेवा में पहले से ज्यादा तीव्र गति आई है तथा ऐसे प्रकाशन जिन्हें सम्भवतः मात्र उनके नाम से खोजना असम्भव हो उन्हें भी औसत सामान्य लाक्षणिकता के आधार पर आसानी से खोजा जा सकता है.

११. कृतिनाम, कृति स्वरूप (मूल, टीका, अनुवादादि), कर्ता, टीकाकार, अनुवादक, कृति के आदिवाक्य, अध्याय नाम आदि के आधार पर सम्बन्धित कृति तथा प्रकाशन की सूचना अविलम्ब प्राप्त की जा सकती है.

१२. विद्वान की गुरु परम्परा की सूचना एकत्रित करनी भी इस प्रोजेक्ट का एक विशेष भाग है. इसके अंतर्गत विद्वान के एकाधिक अपर नाम, गुरु परम्परा, गच्छ, शिष्य-परम्परा, समय, इतिहास, उनके द्वारा निर्मित कृतियाँ, लिखित हस्तप्रतें या संपादित/संशोधित प्रकाशन आदि के विषय में विस्तार से जानकारी एकत्र की जा सकती है. जैसे यदि किसी वाचक को श्री विजयहीरसूरि का इतिहास जानना हो तो उनकी समस्त कृतियों, प्रतिलेखनों, गुरु परम्परा एवं आज तक उनकी परम्परा में हुए शिष्यों का विवरण प्राप्त किया जा सकता है.

१३. कभी-कभी एक पुस्तक में कई परस्पर असम्बद्ध एवं स्वतंत्र कृतियाँ भी प्रकाशित होती है. इनके विषय में परम्परागत केटलॉगिंग अथवा रजिस्टर द्वारा बहुत कम ही ज्ञात हो पाता है किन्तु यहाँ पर इस प्रकार की रचनाओं को पेटा अंक (पेटांक, Peta card/Sub-card no.) दिए जाते हैं. इससे इनके नाम, कर्ता, टीकाकार, अनुवादकादि तथा आदिवाक्य इत्यादि के आधार पर कम्प्यूटर इन्हें खोज लेता है कि ऐसी कृति किस प्रकाशन में किस पृष्ठ पर प्रकाशित हुई है. जैसे किसी वाचक को

उपाध्याय यशोविजयजी की स्तुति चाहिए तो वह संभवतः स्वतंत्र प्रकाशन के रूप में कहीं नहीं मिल सकती किन्तु आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर की कम्प्यूटरीकृत सूचना-पद्धति द्वारा तुरन्त प्राप्त की जा सकती है और आपको आश्चर्य होगा कि यह ९ श्लोकों की कृति भद्रंकर साहित्य संदोह नामक

प्रकाशन के पृष्ठ संख्या २३६-२३७ पर छपी है तथा इसके रचयिता आचार्य श्री भद्रंकरसूरि हैं तथा आदिवाक्य- *वंदे यशोविजयवाचकवर्य धुर्यं..* है, इत्यादि अनेकानेक सूचनाएँ उपलब्ध हो सकती है. इस प्रकार एक-एक प्रकाशन में सामान्यतः एकाधिक (अर्थात् २ से १००० से भी ज्यादा कभी-कभी) कृतियाँ होती हैं. उनकी भी विस्तृत सूचनाएँ यहाँ संकलित की जाती है.

१४. प्रत्येक कृति की विषयवस्तु की पहचान कर विषय कोडिंग का भगीरथ कार्य भी प्रारम्भ किया गया है. विषय कोडिंग के अंतर्गत वाचक को उदाहरण के लिए यदि महावीर स्वामी के अतिशयों से सम्बन्धित कृतियों की जानकारी चाहिए तो ऐसी सभी कृतियों की सूची संलग्न अध्यायों की सूचना के साथ मिल सकती है. इस अद्भुत कार्य में पर्याप्त समय तथा अधिकारी विद्वानों का श्रम अपेक्षित है. निस्संदेह यह कार्य बहुत उपयोगी सिद्ध होगा किन्तु पर्याप्त सहयोग के अभाव में इसे सम्पन्न करना असम्भव है.

१५. कृति के आदिवाक्य तथा अंतिमवाक्य यदि ज्ञात हो तो भी इनमें से किसी एक के विषय में जानकारी होने पर कृति का नाम ज्ञात किया जा सकता है.

१६. कृति की सूचनाओं के साथ ही प्राचीन हस्तलिखित प्रत के लेखक, लेखन स्थल, लेखन वर्ष, उसकी शुद्धता, हस्तप्रत की दशा आदि एवं अन्य ढेर सारी लाक्षणिकताओं के आधार पर विद्वान योग्य हस्तप्रत का संशोधन आदि के कार्य हेतु शीघ्रता व सुगमता से चयन कर सकते हैं. यथा- किसी विद्वान को विक्रम संवत १५०० के पहले की लिखित भगवतीसूत्र की चूर्णि की हस्तप्रत चाहिए जो कि संशोधित हो व टिप्पणियों से युक्त हो एवं उसकी दशा जीर्ण न हो- तो उन्हें इस तरह की इच्छित हस्तप्रतों की सूची मिल सकती है. चाहे वह किसी भी ज्ञान भंडार/ग्रंथालय में क्यों न हो.

१७. यह तो एक झलक मात्र है. इनके अलावा भी अन्य अनेकानेक तरीकों से बहुविध सूचनाएँ आसानी से प्राप्त की जा सकती है. साथ ही और भी अन्य सुविधाएँ उपलब्ध कराने के प्रयास किए जा रहें हैं जैसे कि किसी वर्ष में प्रकाशित किसी सामयिक/Periodical की सूचना या उसमें प्रकाशित/समीक्षित किसी कृति की सूचना आदि.

अभी तक लगभग ८४,००० हस्तलिखित ग्रंथों की प्रविष्टि कम्प्यूटर पर हो चुकी है तथा इनके के साथ १,१३,१४२ कृतियों की सूचना कम्प्यूटर पर उपलब्ध की जा चुकी है. इसी प्रकार ५८,५६० प्रकाशनों की १,११,०७२ पुस्तकों की सूचनाएँ कम्प्यूटर पर एन्ट्री की जा चुकी है. प्रकाशनों के साथ १,३०,२७४ कृतियों को संयोजित किया जा चुका है. इनके व्यवस्थापन एवं रखरखाव के लिए उपयोगितानुसार २७ विभाग बनाए गए हैं. सभी हस्तलिखित ग्रंथों एवं मुद्रित पुस्तकों की सुरक्षा के लिए उनके फ्यूमिगेशन करने की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है. जिससे कीटादि तथा वातावरणजन्य दोष से इस बहुमूल्य निधि की रक्षा हो सके. ग्रंथ संग्रहण एवं संशोधनयुक्त इस विशालकाय जटिल कम्प्यूटरीकरण के कार्य को आगे चल कर बृहत जैन साहित्य एवं साहित्यकार कोश के रूप में विकसित करने की योजना है. इसी के तहत जैसलमेर, पाटण, खंभात एवं लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर-अहमदाबाद, भाण्डारकर प्राच्यविद्या मन्दिर-पूना आदि के ताड़पत्रीय व अन्य विशिष्ट ग्रंथों की विस्तृत सूची कम्प्यूटर पर ली जा चुकी है (हमारे लिए गौरव का विषय है कि जैसलमेर भंडार संबंधी यहाँ उपलब्ध सूचनाओं का उपयोग पूज्य मुनिराजश्री जंबूविजयजी ने भी जैसलमेर भंडार को व्यवस्थित करते समय एवं स्केनिंग के कार्य के समय किया था.) एवं अन्य विशिष्ट

भंडारों की सूची भी कम्प्यूटर पर लेने का कार्य क्रमशः जारी है. साथ ही अनेक भंडारों के विशिष्ट ग्रंथों की माइक्रो-फिल्म एवं जेरॉक्स नकलें भी यहाँ पर एकत्र की गई हैं. इस कार्य के पूरा होते ही प्रायः समग्र उपलब्ध जैन साहित्य एवं साहित्यकारों की सूचनाएँ एक ही जगह से उपलब्ध हो सकेगी. वैसे आज भी जैन साहित्य एवं साहित्यकारों के विषय में इस संस्था में जितनी सूचनाएँ उपलब्ध हैं वे अन्यत्र कहीं भी नहीं है.

चूँकि यह ज्ञानमंदिर जैनों की नगरी अहमदाबाद के एकदम समीप स्थित हैं अतः सभी समुदायों के पूज्य

साधु-साध्वीजी म. सा., विद्वद्वर्ग एवं सामान्य श्रद्धालुजन भी इन सूचनाओं का महत्तम मात्रा में उपयोग कर रहें है. भारत के सुदूर क्षेत्रों के साथ ही विदेशों से भी विद्वानों एवं संशोधकों का यहाँ तांता लगा रहता है. साथ ही यह प्रयास भी किया जा रहा है कि और भी ज्यादा लोग यहाँ की सूचनाओं/सुविधाओं का उपयोग करें. सर्वजनोपयोगी महत्वपूर्ण उपलब्ध सूचनाओं का संकलन कर इन्टरनेट पर रखने की भी योजना है.

अपनी इस प्राचीन धरोहर को सुसंरक्षित करने का यह कार्य अत्यंत ही श्रमसाध्य है एवं इस कार्य के वर्षों तक जारी रहने की संभावना है. उदाहरण के लिए अस्त-व्यस्त हो चुके बिखरे पन्नों वाले ग्रंथों के पत्रों का परस्पर मिलान कर के उन्हें पुनः इकट्ठा करने का प्राथमिक कार्य ही पंडितो का बहुत सा समय एवं श्रम माँग लेता है. इसके बाद संशुद्ध रूप से सूचीकरण हेतु हस्तप्रत प्रोजेक्ट से संबद्ध लगभग आठ विविध प्रक्रियाएँ होती है. इतने विशाल पैमाने पर इस तरह का बहुउपयोगी कार्य सर्वप्रथम बार ही हो रहा है. यह कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाएगा, त्यों-त्यों जैन साहित्य के संशोधन एवं अभ्यास के क्षेत्र में एक नए युग का उदय होता जाएगा. वास्तव में इन उपलब्धियों को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया जाएगा ऐसा कहना

अतिशयोक्ति नहीं है.

web site: www.kobatirth.org